अप्रैल, 2014

उच्चतम न्यायालय निर्णय पत्रिका

प्रधान संपादक
अनूप कुमार वार्ष्णेय

संपादक
जुगल किशोर

महत्वपूर्ण निर्णय

परक्राम्य लिखत अधिनियम, 1881 (1881 का 26) – धारा 138 – चैक का अनादरण – विधिक नोटिस का उत्तर देने के लिए समय न दिया जाना – यदि याची के चैक का बैंक में अनादरण हो जाता है और अभियुक्त को इस संबंध में याची द्वारा विधिक नोटिस जारी कर दिया जाता है परन्तु उसका उत्तर देने के लिए अभियुक्त को समय नहीं दिया जाता है, तब याची द्वारा धारा 138 के अधीन फाइल किया गया परिवाद चलने योग्य नहीं होगा ।

संजय कुमार बनाम **बिहार राज्य और एक अन्य** 137

संसद् के अधिनियम

दहेज प्रतिषेध अधिनियम, 1961 का हिन्दी में प्राधिकृत पाठ (1) – (15)

पृष्ठ संख्या 1 – 144 **[2014] 2 उम. नि. प.**

विधि साहित्य प्रकाशन
विधायी विभाग
विधि और न्याय मंत्रालय
भारत सरकार

उच्चतम न्यायालय निर्णय पत्रिका – अप्रैल, 2014 [पृष्ठ संख्या 1 – 144]

संपादक-मंडल

श्री प्रेम कुमार मल्होत्रा,
सचिव, विधायी विभाग

श्रीमती शारदा जैन, संयुक्त सचिव एवं विधायी परामर्शी, विधायी विभाग

डा. विजय नारायण मणि, अधिवक्ता,
(पूर्व संपादक) वि.सा.प्र.

प्रो. डा. वैभव गोयल,
लाल बहादुर शास्त्री राष्ट्रीय प्रशासन अकादमी, मसूरी (उत्तराखण्ड)

डा. सुरेन्द्र कुमार शर्मा, प्रिन्सिपल,
विधि विभाग, गुरु गोविंद सिंह इन्द्रप्रस्थ विश्वविद्यालय

डा. ऋषिपाल सिंह,
सेवानिवृत्त संयुक्त सचिव, राजभाषा खंड

श्री लालजी प्रसाद,
सेवानिवृत्त प्रधान संपादक, वि.सा.प्र.

श्री कृष्ण गोपाल अग्रवाल,
सेवानिवृत्त संपादक, वि.सा.प्र.

श्री अनूप कुमार वार्ष्णेय,
प्रधान संपादक

श्री महमूद अली खां,
संपादक

श्री जुगल किशोर,
संपादक

डा. मिथिलेश चन्द्र पांडेय,
संपादक

सहायक संपादक : सर्वश्री विनोद कुमार आर्य, कमला कान्त, अविनाश शुक्ल और असलम खान

उप-संपादक : सर्वश्री दयाल चन्द ग्रोवर, महीपाल सिंह और जसवन्त सिंह

कीमत : डाक-व्यय सहित

एक प्रति : ₹ 19

वार्षिक : ₹ 225

© 2014 भारत सरकार, विधि और न्याय मंत्रालय

प्रकाशन और विक्रय प्रबंधक, विधि साहित्य प्रकाशन, विधि और न्याय मंत्रालय (विधायी विभाग), भगवानदास मार्ग, नई दिल्ली-110001 द्वारा प्रकाशित तथा..... द्वारा मुद्रित ।

भारत के समाचारपत्रों के रजिस्ट्रार द्वारा रजिस्ट्रीकृत रजि. सं. 16288/68

सादर

विधि साहित्य प्रकाशन द्वारा तीन मासिक निर्णय पत्रिकाओं – उच्चतम न्यायालय निर्णय पत्रिका, उच्च न्यायालय सिविल निर्णय पत्रिका और उच्च न्यायालय दांडिक निर्णय पत्रिका का प्रकाशन किया जाता है । उच्चतम न्यायालय निर्णय पत्रिका में उच्चतम न्यायालय के चयनित निर्णयों को और उच्च न्यायालय सिविल निर्णय पत्रिका तथा उच्च न्यायालय दांडिक निर्णय पत्रिकाओं में देश के विभिन्न उच्च न्यायालयों के क्रमशः चयनित सिविल और दांडिक निर्णयों को हिन्दी में प्रकाशित किया जाता है । इन पत्रिकाओं को और अधिक आकर्षक बनाने के लिए इनमें जनवरी, 2010 के अंक से महत्वपूर्ण केन्द्रीय अधिनियमों का प्राधिकृत हिन्दी पाठ को पाठकों की सुविधा के लिए शृंखलाबद्ध रूप से प्रकाशित किया जा रहा है । तीनों निर्णय पत्रिकाओं की वार्षिक कीमत केवल ₹ 495/- है । उच्चतम न्यायालय निर्णय पत्रिका की वार्षिक कीमत ₹ 225/- है, उच्च न्यायालय सिविल निर्णय पत्रिका की वार्षिक कीमत ₹ 135/- है और उच्च न्यायालय दांडिक निर्णय पत्रिका की वार्षिक कीमत ₹ 135/- है । तीनों मासिक निर्णय पत्रिकाओं के नियमित ग्राहक बनकर हिन्दी के प्रचार-प्रसार के इस महान यज्ञ के भागी बन कर अनुगृहीत करें ।

विधि साहित्य प्रकाशन
(विधायी विभाग)
विधि और न्याय मंत्रालय
भारत सरकार
भारतीय विधि संस्थान भवन,
भगवान दास मार्ग, नई दिल्ली-110001
दूरभाष : 011-23387589, 23385259, 23382105

विधि साहित्य प्रकाशन द्वारा प्रकाशित और विक्रय के लिए उपलब्ध विधि पाठ्य पुस्तकों की सूची

	पुस्तक का नाम	लेखक	पृष्ठ सं.	कीमत (₹)
1.	भारत का विधिक इतिहास	श्री सुरेन्द्र मधुकर	410	30.00
2.	माल विक्रय और परक्राम्य लिखत विधि	डा. एन. पी. परांजपे	371	40.00
3.	वाणिज्य विधि	डा. आर. एल. भट्ट	630	108.00
4.	अपकृत्य विधि के सिद्धान्त (तृतीय संस्करण)	श्री शर्मन लाल अग्रवाल	357	40.00
5.	अंतर्राष्ट्रीय विधि के प्रमुख निर्णय (द्वितीय संस्करण)	डा. एस. सी. खरे	273	115.00
6.	मानव अधिकार	डा. शिवदत्त शर्मा	340	120.00
7.	दण्ड प्रक्रिया संहिता	न्या. महावीर सिंह	840	200.00

पुस्तकों की सूची जिन पर छूट देने की स्वीकृति प्राप्त की गई है ।

	पुस्तक का नाम	लेखक	पृष्ठ सं.	मूल दर (₹)	संशोधित दर (₹)
1.	संविदा विधि (द्वितीय संस्करण)	डा. रामगोपाल चतुर्वेदी	552	275.00	137.00
2.	श्रम विधि (तृतीय संस्करण)	श्री गोपी कृष्ण अरोड़ा	658	452.00	226.00
3.	चिकित्सा न्यायशास्त्र और विष विज्ञान (तृतीय संस्करण)	डा. सी. के. पारिख अनुवादक डा. एन. के. पटौरिया	969	293.00	146.00
4.	आधुनिक पारिवारिक विधि	श्री राम शरण माथुर	767	429.00	214.00
5.	भारतीय स्वातंत्र्य संग्राम (कालजयी निर्णय)	संकलन संपादन – ब्रह्मदेव चौबे	209	225.00	112.00
6.	हिन्दू विधि (द्वितीय संस्करण)	डा. रवीन्द्र नाथ	617	425.00	212.00
7.	भारतीय दंड संहिता	डा. रवीन्द्र नाथ	696	741.00	370.00
8.	भारतीय भागीदारी अधिनियम (द्वितीय संस्करण)	श्री माधव प्रसाद वशिष्ठ	272	165.00	82.00
9.	प्रशासनिक विधि (तृतीय संस्करण)	डा. कैलाश चन्द्र जोशी	635	200.00	100.00
10.	विधिक उपचार (द्वितीय संस्करण)	डा. एस. के. कपूर	414	311.00	155.00
11.	विधि शास्त्र	डा. शिवदत्त शर्मा	501	580.00	377.00

विधि साहित्य प्रकाशन

(विधायी विभाग)

विधि और न्याय मंत्रालय

भारत सरकार

भारतीय विधि संस्थान भवन,

भगवान दास मार्ग, नई दिल्ली-110001

उच्चतम न्यायालय निर्णय पत्रिका

अप्रैल, 2014

निर्णय-सूची

	पृष्ठ संख्या
डेफ एम्पलाइज़ वेल्फेयर एसोसिएशन और एक अन्य **बनाम** भारत संघ और अन्य	51
पेरूमल **बनाम** जानकी	70
बिश्वनाथ भट्टाचार्य **बनाम** भारत संघ और अन्य	86
मदन और एक अन्य **बनाम** महाराष्ट्र राज्य	40
मोंटफोर्ड ब्रदर्स आफ सेंट गेबरियल और एक अन्य **बनाम** यूनाइटेड इंडिया इंश्योरेंस और एक अन्य आदि	125
संजय कुमार **बनाम** बिहार राज्य और एक अन्य	137
सिस्टर मीना ललिता बरूआ **बनाम** उड़ीसा राज्य	13
सुन्दरगढ़ जिला आदिवासी एडवोकेट्स एसोसिएशन और अन्य **बनाम** उड़ीसा राज्य सरकार और अन्य	1

संसद् के अधिनियम

दहेज प्रतिषेध अधिनियम, 1961 का हिन्दी में प्राधिकृत पाठ	(1) – (15)

पृष्ठ संख्या

तस्कर और विदेशी मुद्रा छलसाधक (संपत्ति समपहरण) अधिनियम, 1976 (1976 का 13)

– धारा 2(2), 3(ग), 6(1) और 7 – संपत्ति का समपहरण – आंतरिक सुरक्षा अधिनियम, 1971 और बाद में विदेशी मुद्रा संरक्षण और तस्करी निवारण अधिनियम, 1974 के अधीन निरोध के पश्चात् आय के स्रोत स्पष्ट करने के लिए सूचना – सूचना में उन कारणों को अंतर्विष्ट न करना जिनके आधार पर सक्षम प्राधिकारी को यह विश्वास हुआ कि अनुसूचीगत संपत्तियां अवैध रूप से अर्जित संपत्तियां हैं – सक्षम प्राधिकारी की संतुष्टि के संबंध में लेखबद्ध कारणों की बाद में तामील की जाना और व्यक्तिगत सुनवाई का अवसर भी दिया जाना – धारा 6 के अधीन जारी की गई सूचना को कारण न दिए जाने के कारण दूषित नहीं ठहराया जा सकता है क्योंकि ऐसे कारणों को संसूचित करने की कोई अभिव्यक्त कानूनी अपेक्षा नहीं है ।

बिश्वनाथ भट्टाचार्य बनाम **भारत संघ और अन्य** 86

– धारा 2(2), 3(ग), 6(1) और 7 [सपठित संविधान, 1950 का अनुच्छेद 20] – संपत्ति का समपहरण – चूंकि संपत्ति का समपहरण अधिनियम में विनिर्दिष्ट ऐसे व्यक्तियों के संबंध में है जिन्होंने संपत्ति अवैध रूप से अर्जित की है और इस अधिनियम को संविधान की नवीं अनुसूची में शामिल किया गया है इसलिए इसे इस आधार पर आक्षेपित नहीं किया जा सकता है कि इससे संविधान के भाग 3 के अधीन प्रत्याभूत किसी अधिकार का अतिक्रमण होता है ।

बिश्वनाथ भट्टाचार्य बनाम **भारत संघ और अन्य** 86

दंड प्रक्रिया संहिता, 1973 (1974 का 2)

– धारा 191, 195, 211 और 340 – मिथ्या साक्ष्य

पृष्ठ संख्या

के लिए अभियोजन किया जाना – विचारण न्यायालय और उच्च न्यायालय की शक्ति – यदि धारा 340 के अधीन न्यायिक मजिस्ट्रेट सं. 1 के समक्ष परिवाद फाइल नहीं किया गया है और न ही उस मजिस्ट्रेट ने स्वयमेव परिवाद फाइल किया है तब न्यायिक मजिस्ट्रेट सं. 2 जिसके समक्ष निजी परिवाद फाइल किया गया है, इस परिवाद को खारिज ही करेगा ।

पेरूमल बनाम **जानकी** 70

– धारा 191, 195, 211 और 340 – उच्च न्यायालय की शक्ति – उच्च न्यायालय को सांविधानिक न्यायालय होने के नाते उस राज्यक्षेत्र में सभी न्यायालयों पर अधीक्षण रखने की शक्ति निहित की गई है जिस पर उच्च न्यायालय अपनी अधिकारिता का प्रयोग कर सकता है, अतः उच्च न्यायालय को विचारण न्यायालय के निर्णय पर पुनः विचार करने हेतु हस्तक्षेप करना होगा ।

पेरूमल बनाम **जानकी** 70

– धारा 301 – प्राइवेट पक्षकार और लोक अभियोजक की शक्ति – साक्ष्य में सुधार – यह कहना गलत होगा कि आहत के लिए प्राइवेट पक्षकार के रूप में साक्ष्य में आई ऐसी गलती को सुधारने के लिए प्रभावी कदम उठाने की कोई गुंजाइश नहीं है जो ऐसे कानूनी साक्षी से कारित की गई हो जिससे यह प्रत्याशा की जाती हो कि वह न्यायालय के समक्ष साक्ष्य देते समय शत-प्रतिशत निष्पक्षता बनाए रखेगा ।

सिस्टर मीना ललिता बरूआ बनाम **उड़ीसा राज्य** 13

– धारा 311 – साक्षी की पुनःपरीक्षा – कानूनी साक्षी के साक्ष्य में त्रुटि – यदि कोई भी साक्षी विशेषकर कानूनी साक्षी गलत कथन देता है जो उसके अपने अभिलेख

पृष्ठ संख्या

से मेल नहीं खाता है तब इस त्रुटि का समाधान कराने में न्यायालयों को संकोच नहीं करना चाहिए और यह ध्यान रखना चाहिए कि किसी भी पक्षकार पर कोई भी प्रतिकूल प्रभाव नहीं पड़ा है ।

सिस्टर मीना ललिता बरूआ बनाम **उड़ीसा राज्य** 13

दंड संहिता, 1860 (1860 का 45)

– धारा 119 – मिथ्या साक्ष्य – शपथ भंग – कॉलेज को कूटरचित कहते हुए उसमें सेवा करना – यदि याचिका में किए गए अभिवाकों के संबंध में याची यह प्रार्थना करता है कि उसके कुछ अभिवाकों को, असंगत होने के कारण, अनदेखा कर दिया जाए तब ऐसी प्रार्थना अनुचित होगी क्योंकि पक्षकारों की जानकारी के अनुसार उनके द्वारा किए गए अभिवाक् सत्य होने चाहिए और यदि कोई व्यक्ति भ्रम में डालने वाले ऐसे अभिवाक् करता है तब न्यायालय उसके मामले पर विचार नहीं करेगा अपितु ऐसे व्यक्ति का विचारण शपथ भंग के अपराध के लिए भी किया जा सकता है ।

संजय कुमार बनाम **बिहार राज्य और एक अन्य** 137

– धारा 228 [सपठित अधिवक्ता अधिनियम, 1961 तथा उच्चतम न्यायालय नियम, 1966] – न्यायालय की अवमानना – बुलाए जाने पर भी अभिलेख अधिवक्ता का न्यायालय में हाजिर न होना – बिना सोचे समझे याचिकाओं पर हस्ताक्षर करके अग्रेषित करना – प्रोक्सी काउंसेल का प्राधिकार – यदि अभिलेख अधिवक्ता न्यायालय में बुलाए जाने पर हाजिर नहीं होता है तब उसका आचरण न्यायालय का आपराधिक अवमान करने की कोटि में आ सकता है – न्यायालय में किसी भी अधिवक्ता को प्रोक्सी काउंसेल के रूप में पेश होकर

पृष्ठ संख्या

न्यायालय का समय बर्बाद करने और उसकी प्रक्रिया का दुरुपयोग करने के लिए अनुज्ञात नहीं किया जा सकता है और प्रोक्सी काउंसेल जैसे संबंध का उल्लेख अधिवक्ता अधिनियम या उच्चतम न्यायालय नियम में कहीं भी नहीं किया गया है, इसलिए प्रोक्सी काउंसेल की हाजिरी स्वीकार करना न्यायालय के लिए आवश्यक नहीं है ।

संजय कुमार बनाम **बिहार राज्य और एक अन्य** 137

निःशक्त व्यक्ति (समान अवसर, अधिकार संरक्षण और पूर्ण भागीदारी) अधिनियम, 1995

– धारा 2(झ), 2(ट), 42 से 47 और 68 सपठित संविधान, 1950, अनुच्छेद 14, 16 और 32 – परमादेश की रिट – मूक-बधिर सरकारी कर्मचारियों के लिए परिवहन भत्ता – नेत्रहीन और विकलांग सरकारी कर्मचारियों के समान परिवहन भत्ता दिए जाने का दावा – स्वास्थ्य और परिवार कल्याण मंत्रालय तथा सड़क परिवहन और राजमार्ग मंत्रालय द्वारा नेत्रहीन कर्मचारियों के समान परिवहन भत्ता दिए जाने की सिफारिश – सरकार का यह आधार कि इस दावे की परीक्षा सातवां वेतन आयोग करेगा क्योंकि मूक-बधिर कर्मचारी नेत्रहीन और चलन निःशक्तता वाले कर्मचारियों के समान ह्रासित नहीं हैं, कायम रखे जाने योग्य नहीं है चूंकि धारा 2(झ) में उल्लिखित निःशक्तताओं वाले सभी व्यक्तियों का अपना एक वर्ग होता है और वे समान व्यवहार के हकदार हैं तथा उनके बीच और विभेद करना अनुच्छेद 14 का अतिक्रमणकारी होगा ।

डेफ एम्पलाइज़ वेल्फेयर एसोसिएशन और एक अन्य बनाम **भारत संघ और अन्य** 51

पृष्ठ संख्या

परक्राम्य लिखत अधिनियम, 1881 (1881 का 26)

– धारा 138 – चैक का अनादरण – विधिक नोटिस का उत्तर देने के लिए समय न दिया जाना – यदि याची के चैक का बैंक में अनादरण हो जाता है और अभियुक्त को इस संबंध में याची द्वारा विधिक नोटिस जारी कर दिया जाता है परन्तु उसका उत्तर देने के लिए अभियुक्त को समय नहीं दिया जाता है, तब याची द्वारा धारा 138 के अधीन फाइल किया गया परिवाद चलने योग्य नहीं होगा ।

संजय कुमार बनाम **बिहार राज्य और एक अन्य** 137

भूमि अर्जन अधिनियम, 1894 (1894 का 1)

– धारा 18(2) और धारा 30 – निर्देश – परिसीमा अवधि – जहां कलक्टर द्वारा कोई प्रभाजन न किया गया हो वहां धारा 18 के अधीन परिसीमा अवधि – जबकि धारा 18 उन स्थितियों में लागू होती है जहां अधिनिर्णय में किए जाने वाले प्रभाजन के संबंध में किसी फायदाग्राही द्वारा आक्षेप किया जाता है किन्तु धारा 30 वहां लागू होती है जहां कलक्टर द्वारा परस्पर-विरोधी दावों के कारण कोई प्रभाजन नहीं किया जाता है इसलिए दावेदार धारा 30 के अधीन निर्देश में न्यायालय द्वारा प्रभाजन आदेश पारित किए जाने के पश्चात् वर्धित प्रतिकर के लिए धारा 18 के अधीन निर्देश की विधिसम्मत रूप से ईप्सा कर सकते हैं और ऐसी दशा में धारा 18(2) के अधीन परिसीमा अवधि उस तारीख से आरंभ होगी जब प्रभाजन संबंधी ऐसा आदेश/अधिनिर्णय संबंधित दावेदार को या तो संसूचित कर दिया जाता है या उसे वास्तव में या आन्वयिक रूप से ज्ञात हो जाता है ।

मदन और एक अन्य बनाम **महाराष्ट्र राज्य** 40

पृष्ठ संख्या

मोटर यान अधिनियम, 1988 (1988 का 59)

– धारा 166 [सपठित सिविल प्रक्रिया संहिता, 1908 की धारा 2(11) और मिज़ोरम मोटर दुर्घटना दावा अधिकरण नियम, 1988 का नियम 2] – प्रतिकर – मृतक का एक पूर्त सोसाइटी से जुड़ने के पश्चात् अपने नैसर्गिक कुटुम्ब से संबंध तोड़ देना – विधिक प्रतिनिधि – बीमा कंपनी द्वारा सोसाइटी की ओर से किए गए दावे की संधार्यता के बारे में कोई आक्षेप न करना – अधिकरण के अधिनिर्णय को रिट याचिका द्वारा उच्च न्यायालय में चुनौती देना – चूंकि बीमा कंपनी द्वारा अधिकरण के समक्ष दावेदारों के विधिक प्रतिनिधि न होने के संबंध में कोई आक्षेप नहीं किया गया था और न ही कोई साक्ष्य प्रस्तुत किया गया था, इसलिए उच्च न्यायालय तथ्य संबंधी इस विवाद्यक को प्रथम बार रिट याचिका में विनिश्चित नहीं कर सकता था ।

मोंटफोर्ड ब्रदर्स आफ सेंट गेबरियल और एक अन्य बनाम **यूनाइटेड इंडिया इंश्योरेंस और एक अन्य आदि** 125

संविधान, 1950

– अनुच्छेद 244, 243यग, 243यच [सपठित उड़ीसा नगरपालिका अधिनियम, 1950 की धारा 1] – सुन्दरगढ़ अनुसूचित क्षेत्र का उड़ीसा अधिनियम द्वारा शासित होना – राज्यपाल द्वारा संविधान के भाग 5 के खंड 5 के अधीन अधिसूचना जारी करके उड़ीसा अधिनियम का विस्तार सुन्दरगढ़ अनुसूचित क्षेत्र तक करना – चूंकि नगरपालिकाओं से संबंधित संविधान के भाग 9 का विस्तार सुन्दरगढ़ अनुसूचित क्षेत्र तक नहीं किया गया है और उड़ीसा अधिनियम का कोई उपबंध संविधान के भाग 9 से असंगत भी नहीं है इसलिए एक वर्ष

पृष्ठ संख्या

के पश्चात् विद्यमान नगरपालिकाओं के बने न रहने का कोई प्रश्न उद्भूत नहीं होता है ।

सुन्दरगढ़ जिला आदिवासी एडवोकेट्स एसोसिएशन और अन्य बनाम **उड़ीसा राज्य सरकार और अन्य** 1

———————

[2014] 2 उम. नि. प. 1

सुन्दरगढ़ जिला आदिवासी एडवोकेट्स एसोसिएशन और अन्य

बनाम

उड़ीसा राज्य सरकार और अन्य

7 मई, 2013

न्यायमूर्ति आर. एम. लोढा, न्यायमूर्ति जे. चेलामेश्वर और न्यायमूर्ति मदन बी. लोकुर

संविधान, 1950 – अनुच्छेद 244, 243यग, 243यच [सपठित उड़ीसा नगरपालिका अधिनियम, 1950 की धारा 1] – सुन्दरगढ़ अनुसूचित क्षेत्र का उड़ीसा अधिनियम द्वारा शासित होना – राज्यपाल द्वारा संविधान के भाग 5 के खंड 5 के अधीन अधिसूचना जारी करके उड़ीसा अधिनियम का विस्तार सुन्दरगढ़ अनुसूचित क्षेत्र तक करना – चूंकि नगरपालिकाओं से संबंधित संविधान के भाग 9 का विस्तार सुन्दरगढ़ अनुसूचित क्षेत्र तक नहीं किया गया है और उड़ीसा अधिनियम का कोई उपबंध संविधान के भाग 9 से असंगत भी नहीं है इसलिए एक वर्ष के पश्चात् विद्यमान नगरपालिकाओं के बने न रहने का कोई प्रश्न उद्भूत नहीं होता है ।

इस रिट याचिका में विचारार्थ प्रमुख प्रश्न यह है कि क्या उड़ीसा म्युनिसिपल ऐक्ट (उड़ीसा नगरपालिका अधिनियम), 1950 के उपबंध उड़ीसा के सुन्दरगढ़ जिले को लागू होते हैं । सुन्दरगढ़ जिला संविधान की पांचवी अनुसूची के खंड 6(1) के निबंधनानुसार घोषित एक अनुसूचित क्षेत्र है । राष्ट्रपति द्वारा कोई क्षेत्र अनुसूचित क्षेत्र के रूप में घोषित किया जा सकता है (जैसा कि सुन्दरगढ़ की दशा में हुआ है) और इसके पश्चात् उस क्षेत्र का प्रशासन और नियंत्रण संविधान की पांचवी अनुसूची द्वारा शासित होता है । संविधान के भाग 9क में भी अनुसूचित क्षेत्रों के प्रति निर्देश किया गया है । यह भाग संविधान (चौहत्तरवां संशोधन) अधिनियम, 1992 के माध्यम से तारीख 1 जून, 1993 को प्रवृत्त हुआ था । इस भाग का संबंध स्वायत्त शासन की संस्थाओं के रूप में नगरपालिकाओं के स्थापन, गठन, उनकी शक्तियों और कृत्यों से है । उच्चतम न्यायालय द्वारा रिट याचिका खारिज करते हुए,

अभिनिर्धारित – संविधान के अनुच्छेद 243यग के उपबंधों का विश्लेषण करने से यह स्पष्ट हो जाता है कि : (क) भाग 9क अनुसूचित क्षेत्रों को स्वयमेव ही लागू नहीं होता है ; (ख) संसद्, भाग 9क के उपबंधों का विस्तार अपवादों और उपांतरणों के अधीन रहते हुए किसी अनुसूचित क्षेत्र पर कर सकेगी । वास्तव में, भाग 9क का विस्तार सुन्दरगढ़ अनुसूचित क्षेत्र पर नहीं किया गया है । दूसरे शब्दों में, संविधान का भाग 9क (अपवादों और उपांतरणों सहित या उनके बिना) सुन्दरगढ़ अनुसूचित क्षेत्र को लागू नहीं होता है । इसी प्रकार, संविधान के अनुच्छेद 243यच का विश्लेषण करने पर यह स्पष्ट हो जाता है कि : (क) नगरपालिकाओं से संबंधित विद्यमान विधि प्रवृत्त बनी रहेगी भले ही वह संविधान के भाग 9क के उपबंधों से असंगत हो ; (ख) तथापि, विद्यमान विधि के असंगत उपबंध तब तक केवल एक वर्ष की अवधि के लिए प्रवृत्त रहेंगे जब तक कि उन्हें इससे पहले संशोधित या निरसित नहीं कर दिया जाता है । स्पष्टतः, किसी विद्यमान विधि को बनाए रखने का प्रयोजन (भले ही वह अध्याय 9क से असंगत क्यों न हो) विद्यमान विधि को अध्याय 9क के अनुरूप बनाने के लिए उसमें आवश्यक संशोधन करने के लिए समर्थ बनाना था । (पैरा 6 और 7)

सुन्दरगढ़ अनुसूचित क्षेत्र को संविधान का भाग 9क लागू होने के अभाव में उस पर उड़ीसा नगरपालिका अधिनियम, 1950 ही लागू होता है । यह अधिनियम तारीख 14 अगस्त, 1995 की लोक अधिसूचना सं. का. नि. आ. 743/1995 जारी करके तारीख 31 मई, 1994 से लागू किया गया है । ऐसा प्रतीत होता है कि याची इस तथ्य से अनभिज्ञ थे जिसका कथन भारत संघ द्वारा रिट याचिका में फाइल किए गए प्रति-शपथपत्र में किया गया है । भारत संघ द्वारा अपने शपथपत्र में यह भी कहा गया है कि उड़ीसा नगरपालिका अधिनियम की धारा 12 के उपबंधों का (पार्षदों के साधारण निर्वाचन और वार्डों के गठन से संबंधित) विस्तार तारीख 16 नवम्बर, 1995 की अधिसूचना सं. का. नि. आ. 1264/1995 द्वारा तारीख 14 नवम्बर, 1995 से अनुसूचित क्षेत्रों पर भी किया गया है । याचियों द्वारा कोई प्रत्युत्तर शपथपत्र फाइल करके दोनों अधिसूचनाओं के जारी किए जाने से संबंधित इन तथ्यों से इनकार नहीं किया गया है । अतः, वास्तव में उस समग्र आधार का अभाव है जिस पर याचियों ने अपने पक्षकथन का निर्माण किया है । इसके अलावा, याचियों के विद्वान् काउन्सेल ने उड़ीसा नगरपालिका अधिनियम का कोई ऐसा उपबंध नहीं दर्शाया है जो कि संविधान के भाग 9क के उपबंधों से असंगत है । अनुच्छेद 243यच में यह उपबंधित है कि नगरपालिकाओं से संबंधित कोई

विधि ऐसे किसी अनुसूचित क्षेत्र पर एक वर्ष के लिए लागू बनी रहेगी सिवाय उसके जहां तक वह संविधान के भाग 9क के उपबंधों से असंगत है । नगरपालिकाओं से संबंधित कोई विधि एक वर्ष की अवधि से परे भी किसी अनुसूचित क्षेत्र को लागू हो सकेगी यदि उस विधि का इस प्रकार विस्तार किया जाता है बशर्ते वह भाग 9क के उपबंधों से असंगत न हो । याचियों के विद्वान् काउन्सेल इसी संदर्भ में उड़ीसा नगरपालिका अधिनियम में किसी ऐसे उपबंध का उल्लेख नहीं कर सके जो कि भाग 9क से असंगत है । इस मामले में याचियों के विद्वान् काउन्सेल की दलीलों में कोई बुनियादी आधार नहीं है किन्तु इस प्रश्न को अनिर्णीत छोड़ते हुए इस संबंध में कोई राय व्यक्त नहीं की जाती है चूंकि भाग 9क सुन्दरगढ़ अनुसूचित क्षेत्र को लागू नहीं किया गया है । (पैरा 20 और 21)

निर्दिष्ट निर्णय

		पैरा
[2010]	(2010) 7 एस. सी. सी. 129 : **बोंदू रामास्वामी** बनाम **बंगलौर डेवलपमेंट अथारिटी** ।	23

मूल (सिविल) अधिकारिता : 2012 की रिट याचिका (सिविल) सं. 215.

भारत के संविधान, 1950 के अनुच्छेद 32 के अधीन रिट याचिका ।

याची की ओर से	श्री ए. पी. मोहन्ती
प्रत्यर्थियों की ओर से	सर्वश्री सुनील कुमार, ज्येष्ठ अधिवक्ता, कृष्णानंद पांडेया, जयेश गौरव, अमरेन्द्र कुमार चौबे, कुमार अनुराग सिंह, (सुश्री) प्रियंका, अनिल कुमार झा, बीनू टमटा, डी. एल. चिदानंद, (सुश्री) सुषमा सूरी, जितेन्द्र कुमार, कीर्ति रेणु मिश्रा और डा. माया राव

न्यायालय का निर्णय न्यायमूर्ति मदन बी. लोकुर ने दिया ।

न्या. लोकुर – संविधान के अनुच्छेद 32 के अधीन इस रिट याचिका में विचारार्थ प्रमुख प्रश्न यह है कि क्या उड़ीसा म्युनिसिपल ऐक्ट (उड़ीसा नगरपालिका अधिनियम), 1950 के उपबंध उड़ीसा के सुन्दरगढ़ जिले को लागू होते हैं ।

2. इस संबंध में कोई विवाद नहीं है कि सुन्दरगढ़ जिला संविधान की पांचवी अनुसूची के खंड 6(1) के निबंधनानुसार घोषित एक अनुसूचित क्षेत्र है । यह खंड निम्नलिखित रूप में है : –

> "6. **अनुसूचित क्षेत्र** – (1) इस संविधान में, "अनुसूचित क्षेत्र" पद से ऐसे क्षेत्र अभिप्रेत हैं जिन्हें राष्ट्रपति आदेश द्वारा अनुसूचित क्षेत्र घोषित करे ।"

3. किसी अनुसूचित क्षेत्र के प्रशासन और नियंत्रण के बारे में संविधान के अनुच्छेद 244 में उपबंध किया गया है जो कि निम्नलिखित रूप में है : –

> "**244. अनुसूचित क्षेत्रों और जनजाति क्षेत्रों का प्रशासन** – (1) पांचवी अनुसूची के उपबंध असम, मेघालय, त्रिपुरा और मिजोरम राज्यों से भिन्न किसी राज्य के अनुसूचित क्षेत्रों और अनुसूचित जनजातियों के प्रशासन और नियंत्रण के लिए लागू होंगे ।
>
> (2) छठी अनुसूची के उपबंध असम, मेघालय, त्रिपुरा और मिजोरम राज्यों के जनजाति क्षेत्रों के प्रशासन के लिए लागू होंगे ।"

4. इससे यह निष्कर्ष निकलता है कि राष्ट्रपति द्वारा कोई क्षेत्र अनुसूचित क्षेत्र के रूप में घोषित किया जा सकता है (जैसा कि सुन्दरगढ़ की दशा में हुआ है) और इसके पश्चात् उस क्षेत्र का प्रशासन और नियंत्रण संविधान की पांचवी अनुसूची द्वारा शासित होता है ।

5. संविधान के भाग 9क में भी अनुसूचित क्षेत्रों के प्रति निर्देश किया गया है । यह भाग संविधान (चौहत्तरवां संशोधन) अधिनियम, 1992 के माध्यम से तारीख 1 जून, 1993 को प्रवृत्त हुआ था । इस भाग का संबंध स्वायत्त शासन की संस्थाओं के रूप में नगरपालिकाओं के स्थापन, गठन, उनकी शक्तियों और कृत्यों से है । वर्तमान प्रयोजनों के लिए हमारा संबंध भाग 9क के अनुच्छेद 243यग और अनुच्छेद 243यच से है । ये उपबंध निम्नलिखित रूप में हैं : –

> "**243यग. इस भाग का कतिपय क्षेत्रों को लागू न होना** – (1) इस भाग की कोई बात अनुच्छेद 244 के खंड (1) में निर्दिष्ट अनुसूचित क्षेत्रों और इसके खंड (2) में निर्दिष्ट जनजाति क्षेत्रों को लागू नहीं होगी ।
>
> (2) इस भाग की किसी बात का यह अर्थ नहीं लगाया जाएगा

कि वह पश्चिमी बंगाल राज्य के दार्जिलिंग जिले के पर्वतीय क्षेत्रों के लिए तत्समय प्रवृत्त किसी विधि के अधीन गठित दार्जिलिंग गोरखा पर्वतीय परिषद् के कृत्यों और शक्तियों पर प्रभाव डालती है ।

(3) इस संविधान में किसी बात के होते हुए भी, संसद्, विधि द्वारा, इस भाग के उपबंधों का विस्तार खंड (1) में निर्दिष्ट अनुसूचित क्षेत्रों और जनजाति क्षेत्रों पर, ऐसे अपवादों और उपांतरणों के अधीन रहते हुए, कर सकेगी, जो ऐसी विधि में विनिर्दिष्ट किए जाएं और ऐसी किसी विधि को अनुच्छेद 368 के प्रयोजनों के लिए इस संविधान का संशोधन नहीं समझा जाएगा ।"

"**243यच. विद्यमान विधियों और नगरपालिकाओं का बना रहना** – इस भाग में किसी बात के होते हुए भी, संविधान (चौहत्तरवां संशोधन) अधिनियम, 1992 के प्रारंभ के ठीक पूर्व किसी राज्य में प्रवृत्त नगरपालिकाओं से संबंधित किसी विधि का कोई उपबंध, जो इस भाग के उपबंधों से असंगत है, जब तक सक्षम विधान-मंडल द्वारा या अन्य सक्षम प्राधिकारी द्वारा उसे संशोधित या निरसित नहीं कर दिया जाता है या जब तक ऐसे प्रारंभ से एक वर्ष समाप्त नहीं हो जाता है, इनमें से जो भी पहले हो, तब तक प्रवृत्त बना रहेगा :

परंतु ऐसे प्रारंभ के ठीक पूर्व विद्यमान सभी नगरपालिकाएं, यदि उस राज्य की विधान सभा द्वारा या ऐसे राज्य की दशा में, जिसमें विधान परिषद् हैं, उस राज्य के विधान-मंडल के प्रत्येक सदन द्वारा पारित इस आशय के संकल्प द्वारा पहले ही विघटित नहीं कर दी जाती हैं तो, अपनी अवधि की समाप्ति तक बनी रहेंगी ।"

6. संविधान के अनुच्छेद 243यग के उपबंधों का विश्लेषण करने से यह स्पष्ट हो जाता है कि : (क) भाग 9क अनुसूचित क्षेत्रों को स्वयमेव ही लागू नहीं होता है [अनुच्छेद 243यग(1)] ; (ख) संसद्, भाग 9क के उपबंधों का विस्तार अपवादों और उपांतरणों के अधीन रहते हुए किसी अनुसूचित क्षेत्र पर कर सकेगी [अनुच्छेद 243यग(3)] । वास्तव में, भाग 9क का विस्तार सुन्दरगढ़ अनुसूचित क्षेत्र पर नहीं किया गया है । दूसरे शब्दों में, संविधान का भाग 9क (अपवादों और उपांतरणों सहित या उनके बिना) सुन्दरगढ़ अनुसूचित क्षेत्र को लागू नहीं होता है ।

7. इसी प्रकार, संविधान के अनुच्छेद 243यच का विश्लेषण करने पर यह स्पष्ट हो जाता है कि : (क) नगरपालिकाओं से संबंधित विद्यमान विधि

प्रवृत्त बनी रहेगी भले ही वह संविधान के भाग 9क के उपबंधों से असंगत हो (अनुच्छेद 243यच का प्रथम भाग) ; (ख) तथापि, विद्यमान विधि के असंगत उपबंध तब तक केवल एक वर्ष की अवधि के लिए प्रवृत्त रहेंगे जब तक कि उन्हें इससे पहले संशोधित या निरसित नहीं कर दिया जाता है (अनुच्छेद 243यच का द्वितीय भाग) । स्पष्टतः, किसी विद्यमान विधि को बनाए रखने का प्रयोजन (भले ही वह अध्याय 9क से असंगत क्यों न हो) विद्यमान विधि को अध्याय 9क के अनुरूप बनाने के लिए उसमें आवश्यक संशोधन करने के लिए समर्थ बनाना था ।

8. इस दीर्घकालिक स्थिति में हमारा संबंध संविधान के अनुच्छेद 243-यच के परन्तुक से नहीं है ।

9. यदि संविधान का भाग 9क किसी अनुसूचित क्षेत्र को लागू नहीं होता है तो सुन्दरगढ़ अनुसूचित क्षेत्र का प्रशासन किस प्रकार चलाया जाना है ? इसके लिए हमें संविधान की पांचवी अनुसूची पर ध्यान देना होगा जिसका संबंध विनिर्दिष्ट रूप से अनुसूचित क्षेत्रों के प्रशासन और नियंत्रण से है । जहां तक प्रस्तुत मामले का संबंध है उसका खंड 5(1) सुसंगत है । यह निम्नलिखित रूप में है : –

> "5. **अनुसूचित क्षेत्रों को लागू विधि** – (1) इस संविधान में किसी बात के होते हुए भी, राज्यपाल लोक अधिसूचना द्वारा निदेश दे सकेगा कि संसद् का या उस राज्य के विधान-मंडल का कोई विशिष्ट अधिनियम उस राज्य के अनुसूचित क्षेत्र या उसके किसी भाग को लागू नहीं होगा अथवा उस राज्य के अनुसूचित क्षेत्र या उसके किसी भाग को ऐसे अपवादों और उपांतरणों के अधीन रहते हुए लागू होगा जो वह अधिसूचना में विनिर्दिष्ट करे और इस उप पैरा के अधीन दिया गया कोई निदेश इस प्रकार दिया जा सकेगा कि उसका भूतलक्षी प्रभाव हो ।
>
> (2) * * * * (विनियमों से संबंधित) ।"

10. खंड 5 राज्य के राज्यपाल को अन्य बातों के साथ-साथ इस आशय की लोक अधिसूचना जारी करने के लिए सशक्त करता है कि : (क) कोई विशिष्ट कानून (जो या तो संसद् द्वारा या राज्य विधान-मंडल द्वारा अधिनियमित हो) किसी अनुसूचित क्षेत्र पर लागू नहीं होगा ; (ख) कोई विशिष्ट कानून (जो या तो संसद् द्वारा या राज्य विधान-मंडल द्वारा अधिनियमित हो) किसी अनुसूचित क्षेत्र को विनिर्दिष्ट अपवादों और उपांतरणों के अधीन लागू होगा ।

11. जहां तक उड़ीसा राज्य का संबंध है, उड़ीसा नगरपालिका अधिनियम की धारा 1 में उपधारा (6) अंतःस्थापित करके निम्नलिखित रूप में संशोधन किया गया था : –

> *"(6) इस अधिनियम में की कोई बात संविधान के अनुच्छेद 244 के खंड (1) में निर्दिष्ट अनुसूचित क्षेत्रों पर लागू नहीं होगी ।"

पूर्वोक्त संशोधन 1994 के उड़ीसा अधिनियम सं. 11 के माध्यम से तारीख 31 मई, 1994 से किया गया था ।

12. उपर्युक्त संशोधन का प्रभाव यह हुआ था कि उड़ीसा नगरपालिका अधिनियम सुन्दरगढ़, जो कि एक अनुसूचित क्षेत्र है, तारीख 31 मई, 1994 से लागू नहीं रहा था । अतः, तारीख 1 जून, 1994 से सुन्दरगढ़ अनुसूचित क्षेत्र के प्रशासन और नियंत्रण में एक प्रकार की शून्यता आ गई थी चूंकि उड़ीसा के अनुसूचित क्षेत्रों पर न तो संविधान का भाग 9क और न ही उड़ीसा नगरपालिका अधिनियम लागू होता था ।

13. उड़ीसा के राज्यपाल ने इस शून्यता की विद्यमानता को अनुभव करते हुए तारीख 31 मई, 1994 से तारीख 14 अगस्त, 1995 की अधिसूचना सं. का. नि. आ. 743/75 जारी की । ऐसा संविधान की पांचवी अनुसूची के खंड 5(1) द्वारा उसे प्रदत्त शक्तियों का प्रयोग करते हुए किया गया था । इस अधिसूचना के आधार पर उड़ीसा नगरपालिका अधिनियम की धारा 1 की उपधारा (6) का निरसन किया गया था और उक्त अधिनियम का विस्तार राज्य के अनुसूचित क्षेत्रों पर किया गया था ।

14. दुर्भाग्यवश, किसी भी पक्षकार ने इस अधिसूचना को अभिलेख पर नहीं रखा है हालांकि भारत संघ द्वारा अपने प्रति-शपथपत्र में इसके प्रति निर्देश अवश्य किया गया था । अतः, इस अधिसूचना को उद्धृत करना उपयुक्त है । यह निम्नलिखित रूप में है : –

"आवासन और शहरी विकास विभाग
अधिसूचना
तारीख 14 अगस्त, 1995

---

* अंग्रेज़ी में यह इस प्रकार है : –

> "(6) Nothing in this Act shall apply to the scheduled areas referred to in Clause (1) of Article 244 of the Constitution."

का. नि. आ. सं. 743/95 – उड़ीसा नगरपालिका अधिनियम, 1950 का उड़ीसा नगरपालिका (संशोधन) अधिनियम, 1994 द्वारा नगरपालिकाओं को सुदृढ़ करने के लिए और अनुसूचित जातियों, अनुसूचित जनजातियों, पिछड़े वर्गों के नागरिकों और महिलाओं को प्रभावी और पर्याप्त प्रतिनिधित्व प्रदान करने के लिए संशोधन किया गया है ;

और उड़ीसा नगरपालिका (संशोधन) अधिनियम, 1994 के प्रारंभ से पूर्व नगरपालिकाओं का गठन अनुसूचित जातियों, अनुसूचित जनजतियों, पिछड़े वर्गों के नागरिकों और महिलाओं के लिए नगरपालिकाओं के गठन, उनके स्थानों पर आरक्षण और अध्यक्षों और उपाध्यक्षों के पदों पर आरक्षण के संबंध में संशोधित उपबंधों के अनुसार नहीं किया गया है ;

नगरपालिकाओं को सुदृढ़ करने और राज्य के अनुसूचित क्षेत्रों अनुसूचित जातियों, अनुसूचित जनजातियों, पिछड़े वर्गों के नागरिकों और महिलाओं को प्रभावी और पर्याप्त प्रतिनिधित्व प्रदान करने के प्रयोजनार्थ उड़ीसा नगरपालिका (संशोधन) अधिनियम, 1994 द्वारा यथा-संशोधित उड़ीसा नगरपालिका अधिनियम, 1950 के उपबंधों को उड़ीसा राज्य के अनुसूचित क्षेत्रों पर लागू करना समीचीन समझा गया है ।

अतः, उड़ीसा के राज्यपाल, भारत के संविधान की पांचवी अनुसूची के पैरा 5 के उप पैरा (1) द्वारा प्रदत्त शक्तियों का प्रयोग करते हुए और का. नि. आ. सं. 521/94 के रूप में प्रकाशित उड़ीसा सरकार के आवासन और शहरी विकास विभाग के अधीन जारी की गई तारीख 28 मई, 1994 की राज्यपाल की अधिसूचना सं. 16222-विधायी आ.श.वि. को अधिक्रांत करते हुए यह निदेश देते हैं कि उड़ीसा नगरपालिका अधिनियम, 1950 (1950 का उड़ीसा अधिनियम 23) के उपबंधों के बारे में यह समझा जाएगा कि वे तारीख 31 मई, 1994 से राज्य के अनुसूचित क्षेत्रों को निम्नलिखित अपवाद और उपांतरण के अधीन रहते हुए लागू होते हैं, अर्थात् : –

(1) उड़ीसा नगरपालिका अधिनियम, 1950 की धारा 1 की उपधारा (6) का लोप किया जाएगा ; और

(2) उड़ीसा नगरपालिका अधिनियम, 1950 में किसी

प्रतिकूल बात के होते हुए भी संविधान (चौहत्तरवां संशोधन) अधिनियम, 1992 के प्रारंभ से ठीक पूर्व राज्य के अनुसूचित क्षेत्रों में विद्यमान नगरपालिक परिषदों और अधिसूचित क्षेत्र परिषदों के प्रत्येक पार्षद, उपाध्यक्ष और अध्यक्ष के पद के कार्यकाल के बारे यह समझा जाएगा कि वे तारीख 2 अगस्त, 1995 से समाप्त हो गया है, और –

(क) तारीख 2 अगस्त, 1995 से आरंभ होने वाली और उक्त परिषदों के पुनर्गठन तक की अवधि के दौरान प्रत्येक ऐसी परिषद् और उसके अध्यक्ष और उपाध्यक्ष की शक्तियों और कर्तव्यों का प्रयोग और पालन ऐसे प्राधिकारी द्वारा ऐसी रीति में किया जाएगा जो राज्य सरकार अधिसूचना द्वारा निदेश दे ; और

(ख) राज्य द्वारा राज्य के नगरपालिका क्षेत्रों पर इस प्रकार लागू किए गए उड़ीसा नगरपालिका अधिनियम, 1950 के अधीन की गई कार्रवाई या की गई किसी बात के बारे में यह समझा जाएगा कि वे विधिमान्य रूप से की गई हैं ।

सं. 27397-निर्वाचन-37/95-एच. यू. डी.
जी. रामानुजम
राज्यपाल, उड़ीसा"

15. इस सांविधानिक और कानूनी पृष्ठभूमि में याचियों के विद्वान् काउन्सेल द्वारा दी गई दलील यह है कि संविधान के भाग 9क के प्रवर्तन में आ जाने पर सुन्दरगढ़ जिले में विद्यमान नगरपालिकाएं, अर्थात्, सुन्दरगढ़, राउरकेला, राजगंगपुर और बिरमितरापुर एक वर्ष की अवधि से परे बनी नहीं रह सकती थीं, जैसा कि संविधान के अनुच्छेद 243यच में उपबंधित है और इसलिए तारीख 1 जून, 1994 से परे उनका अस्तित्व में रहना असांविधानिक था । इस दलील की मूलभूत अभिधारणा यह है कि उड़ीसा नगरपालिका अधिनियम के उपबंध संविधान के भाग 9क से असंगत हैं ।

16. इसके अलावा यह दलील दी गई कि संसद् ने संविधान के भाग 9क के उपबंधों का विस्तार सुन्दरगढ़ के अनुसूचित क्षेत्र पर नहीं किया है और न ही राज्यपाल ने संविधान की पांचवी अनुसूची के खंड 5 द्वारा प्रदत्त

शक्तियों का प्रयोग करते हुए उड़ीसा नगरपालिका अधिनियम के उपबंधों का विस्तार सुन्दरगढ़ जिले पर किया है । अतः, उक्त अधिनियम के उपबंध सुन्दरगढ़ जिले पर लागू नहीं होते हैं जिसके परिणामस्वरूप नगरपालिकाओं का तारीख 1 जून, 1994 से परे बने रहना अवैध है ।

17. हम याचियों की ओर से दी गई इन दोनों दलीलों को स्वीकार करने में असमर्थ हैं चूंकि ये दलीलें तथ्यों और संविधान के सुसंगत उपबंधों का गलत अर्थ लगाने के कारण दी गई है । हम यह भी उल्लेख कर सकते हैं कि तारीख 14 अगस्त, 1995 की अधिसूचना सं. का. नि. आ. 743/95 को चुनौती नहीं दी गई है ।

18. अनुच्छेद 243यग के खंड 1 में यह उपबंधित है कि संविधान के भाग 9क के उपबंध अनुसूचित क्षेत्रों, जैसे सुन्दरगढ़ पर लागू नहीं होते हैं । अनुच्छेद 243यग के खंड 3 में यह उपबंधित है कि संसद् विधि द्वारा संविधान के भाग 9क के उपबंधों का विस्तार अनुसूचित क्षेत्रों जैसे सुन्दरगढ़ पर अपवादों और उपांतरणों के अधीन रहते हुए कर सकेगी । इस संबंध में किसी ने भी पक्षकथन नहीं किया है कि वह विधि संसद् द्वारा अधिनियमित की गई है । इसका एकमात्र परिणाम यह है कि संविधान का भाग 9क, जिसमें नगरपालिकाओं को स्वायत्त शासन की संस्थाओं के रूप में माना गया है, सुन्दरगढ़ पर लागू नहीं होता है ।

19. इसकी तुलना पंचायत (अनुसूचित क्षेत्रों पर विस्तार) अधिनियम, 1996 के उपबंधों से की जा सकती है जिसके द्वारा संविधान (तिहत्तरवां संशोधन) अधिनियम, 1992 द्वारा पुरःस्थापित पंचायतों से संबंधित संविधान के भाग 9 का विस्तार विनिर्दिष्ट रूप से अनुसूचित क्षेत्रों पर किया गया है । नगरपालिकाओं से संबंधित संविधान के भाग 9क का अनुसूचित क्षेत्रों पर विस्तार करने से संबंधित कोई तत्स्थानी कानून नहीं है ।

20. अतः, सुन्दरगढ़ अनुसूचित क्षेत्र को संविधान का भाग 9क लागू होने के अभाव में उस पर उड़ीसा नगरपालिका अधिनियम, 1950 ही लागू होता है । यह अधिनियम तारीख 14 अगस्त, 1995 की लोक अधिसूचना सं. का. नि. आ. 743/1995 जारी करके तारीख 31 मई, 1994 से लागू किया गया है । ऐसा प्रतीत होता है कि याची इस तथ्य से अनभिज्ञ थे जिसका कथन भारत संघ द्वारा रिट याचिका में फाइल किए गए प्रति-शपथपत्र में किया गया है । भारत संघ द्वारा अपने शपथपत्र में यह भी कहा गया है कि उड़ीसा नगरपालिका अधिनियम की धारा 12 के उपबंधों का (पार्षदों के साधारण निर्वाचन और वार्डों के गठन से संबंधित) विस्तार

तारीख 16 नवम्बर, 1995 की अधिसूचना सं. का. नि. आ. 1264/1995 द्वारा तारीख 14 नवम्बर, 1995 से अनुसूचित क्षेत्रों पर भी किया गया है । याचियों द्वारा कोई प्रत्युत्तर शपथपत्र फाइल करके दोनों अधिसूचनाओं के जारी किए जाने से संबंधित इन तथ्यों से इनकार नहीं किया गया है । अतः, वास्तव में उस समग्र आधार का अभाव है जिस पर याचियों ने अपने पक्षकथन का निर्माण किया है ।

21. इसके अलावा, याचियों के विद्वान् काउन्सेल ने उड़ीसा नगरपालिका अधिनियम का कोई ऐसा उपबंध नहीं दर्शाया है जो कि संविधान के भाग 9क के उपबंधों से असंगत है । अनुच्छेद 243यच में यह उपबंधित है कि नगरपालिकाओं से संबंधित कोई विधि ऐसे किसी अनुसूचित क्षेत्र पर एक वर्ष के लिए लागू बनी रहेगी सिवाय उसके जहां तक वह संविधान के भाग 9क के उपबंधों से असंगत है । नगरपालिकाओं से संबंधित कोई विधि एक वर्ष की अवधि से परे भी किसी अनुसूचित क्षेत्र को लागू हो सकेगी यदि उस विधि का इस प्रकार विस्तार किया जाता है बशर्ते वह भाग 9क के उपबंधों से असंगत न हो । याचियों के विद्वान् काउन्सेल इसी संदर्भ में उड़ीसा नगरपालिका अधिनियम में किसी ऐसे उपबंध का उल्लेख नहीं कर सके जो कि भाग 9क से असंगत है । इस मामले में याचियों के विद्वान् काउन्सेल की दलीलों में कोई बुनियादी आधार नहीं है किन्तु हम इस प्रश्न को अनिर्णीत छोड़ते हैं और इस संबंध में कोई राय व्यक्त नहीं करते हैं चूंकि भाग 9क सुन्दरगढ़ अनुसूचित क्षेत्र को लागू नहीं किया गया है ।

22. संविधान के अनुच्छेद 243यग और अनुच्छेद 243यच के निर्वचन के संबंध में कुछ उच्च न्यायालयों में समय-समय पर विचार किया गया है किन्तु जो प्रश्न हमारे समक्ष उठाया गया है, जो कि पूर्णतः तथ्यात्मक प्रकृति का है, वह इससे पूर्व विचारार्थ उद्भूत नहीं हुआ है । अतः, उन विनिश्चयों का उल्लेख करने की आवश्यकता नहीं है ।

23. तथापि, **बोंदू रामास्वामी** बनाम **बंगलौर डेवलपमेंट अथारिटी**[1] वाले मामले के प्रति निर्देश किया जा सकता है जिसमें संविधान में भाग 9क के पुरःस्थापन के पीछे जो प्रयोजन है उसे स्पष्ट किया गया है । उसमें निम्न प्रकार कहा गया है : –

---

[1] (2010) 7 एस. सी. सी. 129.

"संविधान (चौहत्तरवां संशोधन) अधिनियम, 1992 में, जिसके द्वारा संविधान में भाग 9क अंतःस्थापित किया गया है, शहरी क्षेत्रों में नगरपालिका पद्धति को, इन स्थानीय स्वायत्त शासनों को ठोस और प्रभावी आधार प्रदान करके और नियमित और निष्पक्ष निर्वाचनों के संचालन के लिए अध्युपायों का उपबंध करके सुदृढ़ करने की ईप्सा की गई है । भाग 9क के अंतःस्थापन से पूर्व भी संपूर्ण देश में नगरपालिकाएं विद्यमान थीं किन्तु इन स्थानीय स्वायत्त सरकारों के प्रभावी कार्यकरण के लिए कोई एकसमान और ठोस आधार नहीं था ।

नगरपालिकाओं के गठन, वार्ड समितियों के गठन और संरचना, कमजोर वर्गों के लिए स्थानों के आरक्षण, नगरपालिकाओं की अवधि, नगरपालिकाओं की शक्तियों, प्राधिकार और उत्तरदायित्वों, कर अधिरोपित करने की शक्ति, समुचित अधीक्षण और नगरपालिकाओं के निर्वाचन पर केन्द्रीयकृत नियंत्रण, जिला योजना और महानगर योजना के लिए समितियों के गठन से संबंधित उपबंध या तो नगरपालिकाओं से संबंधित राज्य विधियों में अस्तित्व में नहीं थे या अपर्याप्त या दोषपूर्ण थे ।

अध्याय 9क शहरी क्षेत्रों में नगरपालिकाओं को सांविधानिक हैसियत प्रदान करने और न्यूनतम एकसमान मानदंड अधिकथित करने और नियमित और निष्पक्ष निर्वाचनों का संचालन सुनिश्चित करके आधारभूत स्तर पर लोकतंत्रात्मक राजनैतिक शासन को सुदृढ़ बनाने के लिए है ।"

यह उद्देश्य अनुसूचित क्षेत्रों पर यथा-विस्तारित उड़ीसा नगरपालिका अधिनियम और उसमें किए गए संशोधनों द्वारा पूरा किया गया है ।

24. हमारे समक्ष तथ्यात्मक स्थिति को ध्यान में रखते हुए हमें इस रिट याचिका में कोई सार प्रतीत नहीं होता है । तदनुसार यह खारिज की जाती है । खर्चे के बारे में कोई आदेश नहीं किया जाता है ।

रिट याचिका खारिज की गई ।

ग्रो.

सिस्टर मीना ललिता बरूआ

बनाम

उड़ीसा राज्य

5 दिसंबर, 2013

न्यायमूर्ति सुरिन्दर सिंह निज्जर और न्यायमूर्ति फकीर मुहम्मद इब्राहीम कलीफुल्ला

दंड प्रक्रिया संहिता, 1973 (1974 का 2) – धारा 301 – प्राइवेट पक्षकार और लोक अभियोजक की शक्ति – साक्ष्य में सुधार – यह कहना गलत होगा कि आहत के लिए प्राइवेट पक्षकार के रूप में साक्ष्य में आई ऐसी गलती को सुधारने के लिए प्रभावी कदम उठाने की कोई गुंजाइश नहीं है जो ऐसे कानूनी साक्षी से कारित की गई हो जिससे यह प्रत्याशा की जाती हो कि वह न्यायालय के समक्ष साक्ष्य देते समय शत-प्रतिशत निष्पक्षता बनाए रखेगा ।

दंड प्रक्रिया संहिता, 1973 (1974 का 2) – धारा 311 – साक्षी की पुनःपरीक्षा – कानूनी साक्षी के साक्ष्य में त्रुटि – यदि कोई भी साक्षी विशेषकर कानूनी साक्षी गलत कथन देता है जो उसके अपने अभिलेख से मेल नहीं खाता है तब इस त्रुटि का समाधान कराने में न्यायालयों को संकोच नहीं करना चाहिए और यह ध्यान रखना चाहिए कि किसी भी पक्षकार पर कोई भी प्रतिकूल प्रभाव नहीं पड़ा है ।

इस मामले में अपीलार्थी सिस्टर मीना ललिता बरूआ को अभियुक्तों द्वारा उत्पीड़ित किया गया और उनमें से एक अभियुक्त अर्थात् प्रत्यर्थी सं. 9 द्वारा उसके साथ बलात्संग किया गया । अभियुक्तों को सेशन न्यायाधीश द्वारा विचारण किया गया और विचारण के दौरान अपीलार्थी ने शनाख्त परेड कराने वाले मजिस्ट्रेट के साक्ष्य को चुनौती दी और उसने विचारण के दौरान सेशन न्यायाधीश के समक्ष ही उस साक्षी को पुनः बुलाए जाने का आवेदन किया । विचारण न्यायालय द्वारा अपीलार्थी का आवेदन खारिज कर दिया गया है । इस आदेश से व्यथित होकर अपीलार्थी ने उच्च न्यायालय के समक्ष आवेदन किया । उच्च न्यायालय ने भी आवेदन खारिज कर दिया । उच्च न्यायालय के आदेश से व्यथित होकर अपीलार्थी ने उच्चतम न्यायालय के समक्ष अपील फाइल की है । अपील मंजूर करते हुए,

अभिनिर्धारित – न्यायालय की जानकारी में लाए गए मुद्दे के प्रति निर्देश उक्त साक्ष्य का परिशीलन करने के पश्चात्, हमारा यह दृढ़ मत है कि जैसे ही विचारण न्यायालय की जानकारी में मौखिक साक्ष्य की अविश्वसनीयता लाई गई थी तब ही उसके द्वारा समुचित कार्यवाही की जानी चाहिए थी और विचारण न्यायालय की इस असफलता से गंभीर रूप से निश्चय ही अन्याय हुआ है, दुर्भाग्यवश हमारी सुविचारित राय में ऐसा प्रतीत होता है कि उच्च न्यायालय ने बहुत ही औपचारिक दृष्टिकोण अपनाया है जबकि उसे यह पता लगाना चाहिए था कि ऐसी स्थिति में विचारण न्यायालय को किस समुचित प्रक्रिया का पालन करना चाहिए था । उच्च न्यायालय ने भी दंड प्रक्रिया संहिता की धारा 301 के अधीन मात्र यह कहकर भारी अवैधता कारित की है कि आहत के लिए प्राइवेट पक्षकार के रूप में ऐसी गलती को सुधारने के लिए कोई भी प्रभावी कदम उठाने की कोई गुंजाइश नहीं है जो ऐसे कानूनी साक्षी ने कारित की हो जिससे यह प्रत्याशा की जाती हो कि वह दांडिक न्यायालय के समक्ष साक्ष्य देते समय शत-प्रतिशत निष्पक्षता बनाए रखेगा । यदि ऐसा साक्षी एक न्यायिक अधिकारी हो जिसका साक्ष्य उसके न्यायिक अधिकारी होने के आधार पर, न्यायालय के समक्ष इसलिए अधिक महत्व रखता हो कि वह कानूनी साक्षी है जिसे शनाख्त परेड कराने के लिए प्राधिकृत किया गया है, तब ऐसे साक्षी के लिए यह आवश्यक है कि वह किसी भी पक्षकार को अभिलेख के प्रतिकूल गलत कथन देकर लाभ उठाने की गुंजाइश छोड़े बिना पूर्णतया सत्यता बनाए रखे । अतः हमारा यह निष्कर्ष है कि इस अपील में किए गए आक्षेपित आदेशों में भारी अनियमितता है । (पैरा 17)

न्यायालय द्वारा यह समाधान हो गया है कि अपीलार्थी बहुत ही बेतुके अपराध का शिकार है और उसके द्वारा आहत के रूप में की गई शिकायतों पर, हमारी सुविचारित राय में विचारण न्यायालय तथा उच्च न्यायालय को उसके आवेदन को दंड प्रक्रिया संहिता की धारा 301 के प्रति निर्देश बिना सोचे-समझे खारिज करने के बजाय उन पर विचार करना चाहिए था कि अभि. सा. 18 का किस प्रकार मौखिक साक्ष्य प्रदर्श 8 से मेल नहीं खाता है जो कि स्वयं उसके द्वारा तैयार किया गया है और समुचित रूप से अभि. सा. 18 को या तो स्वयं विशेष लोक अभियोजक द्वारा आवश्यक कदम उठाने के लिए बुलाया जाना चाहिए था या न्यायालय के समक्ष भी ऐसी कोई परेशानी नहीं थी कि वह उक्त साक्षी को न्यायालय में पुनः बुलाता और उससे समुचित प्रश्न करता । अतः यह सुस्थापित है कि समाज के विरुद्ध किया गया कोई भी अपराध, यदि कोई भी साक्षी विशेषकर कानूनी

साक्षी गलत कथन देता है जो कि उसके अपने अभिलेख से मेल नहीं खाता है तब ऐसी स्थिति में यह बात हमारी समझ से बाहर है कि विचारण न्यायालय तथा उच्च न्यायालय ने इस त्रुटि का समाधान कराने में क्यों संकोच किया और इसके बजाय औपचारिक दृष्टिकोण अपनाया और न्यायालयों ने यह भी सुनिश्चित नहीं किया कि किसी भी पक्षकार पर कोई भी प्रतिकूल प्रभाव नहीं पड़ रहा है । हमारी सुविचारित राय में ऐसी विशेष स्थिति में निचले न्यायालयों को दंड प्रक्रिया संहिता की धारा 301 और 311 का समाधान किया जाना चाहिए था और यह सुनिश्चित करना चाहिए था कि विचारण सही दिशा में किया गया है । दांडिक न्यायशास्त्र के अनुसार, जब अपराध समाज के विरुद्ध किया जाता है तब आहत ही ऐसा अभागा होता है जिसे वास्तविक रूप से हानि होती है, अतः राज्य के लिए यह आवश्यक है और अभियोजन पक्ष को यह सुनिश्चित करना होगा कि इस संबंध में कोई भी प्रयास शेष नहीं रहा है । न्यायालय का भी यही कर्तव्य और बाध्यता है कि वह दांडिक मामले के विचारण के दौरान सचेत और सावधान रहे और यह सुनिश्चित करे कि विधि के अनुसरण में उसके समक्ष प्रस्तुत किए गए अभिलिखित साक्ष्य से संपूर्ण महत्वपूर्ण जानकारी प्राप्त हो रही है । यह भी कहा जा सकता है कि इस प्रक्रिया में न्यायालय को अपनी जिम्मेदारी के प्रति सचेत रहना चाहिए और कई बार ऐसा हुआ है कि जब अभियोजन पक्ष जानबूझकर या अनवधानता से महत्वपूर्ण साक्ष्य या किसी साक्षी के स्पष्ट कथन को न्यायालय के समक्ष प्रस्तुत नहीं करता है ताकि किसी पक्षकार का समर्थन हो या किसी पक्षकार पर प्रतिकूल प्रभाव पड़े, तब ऐसी स्थिति में न्यायालय को मामले में हस्तक्षेप करने में संकोच नहीं करना चाहिए और अभियोजन पक्ष को स्थिति को स्पष्ट करने के लिए प्रणोदित करे या स्वयं कार्यवाही करे और अभिलेख को ठीक प्रकार समझे । न तो अभियोजन पक्ष को और न ही न्यायालय को ऐसी स्थितियों में मूक दर्शक बने रहना चाहिए । जैसेकि वर्तमान मामले में भी यदि साक्षी द्वारा गलत कथन किया गया है जो कि साक्षी के अपने अभिलेख के प्रतिकूल है और अभियोजन पक्ष कार्यवाहियों के उस प्रक्रम पर या उसके पश्चात् स्थिति को समझने में असफल रहा है जब वह तथ्य उजागर किया गया था और उसके पश्चात् भी अभियोजन पक्ष मूक बना रहा, ऐसी स्थिति में न्यायालय को तत्काल कार्रवाई करनी चाहिए थी और स्थिति को समुचित रूप से सही करने के लिए आवश्यक कदम उठाने चाहिए थे । दंड प्रक्रिया संहिता के संपूर्ण सिद्धांत के अंतर्गत यह परिकल्पना की गई है कि अभियुक्त के विरुद्ध अभिकथित अपराध में कार्यवाही करने के लिए सुस्पष्ट

तंत्र होना चाहिए और जिससे यह सुनिश्चित हो सके कि दोषी बचकर न जाए और निर्दोष को दंडित न किया जाए । उपरोक्त पृष्ठभूमि को ध्यान में रखते हुए, हमारा यह मत है कि वर्तमान मामले में जो मुद्दा है उसमें कार्यवाही की जानी चाहिए । उपरोक्त कानूनी उपबंधों को निर्दिष्ट करने के पश्चात् हम यह विवेचना करते हैं कि धारा 301(2) के अधीन दांडिक कार्यवाहियों में उनके संचालन के संबंध में प्राइवेट व्यक्ति के भाग लेने के अधिकार की अपनी परिसीमाएं हैं, धारा 311 के संघटकों के अधीन विचारण न्यायालय को इस संबंध में सशक्त किया गया है कि वह ठीक ऐसे निष्कर्ष पर पहुंच सके ताकि वह साक्षियों की परीक्षा के मामले में स्थिति का समुचित रूप से आकलन कर सके । अतः वर्तमान मामले जैसी स्थिति को ध्यान में रखते हुए धारा 301 और 311 का एक साथ परिशीलन करने पर यही कहना होगा कि विचारण न्यायालय को इस पर विचार करना चाहिए था कि धारा 311 का अवलंब लिया जाना उचित विनिश्चय पर पहुंचने के लिए अपेक्षित है या नहीं । दूसरे शब्दों में यह कहा जा सकता है कि यदि विचारण न्यायालय के विचार में भी धारा 301(2) का अवलंब लिया जाना अनुज्ञात नहीं था, तब भी अभि. सा. 18 द्वारा दिए गए असंगत साक्ष्य पर, उसके समक्ष प्रस्तुत किए जाने पर इस संबंध में विचार किया जाना चाहिए था कि अवलंब लिए जाने के लिए धारा 311 की व्यापकता कितनी है और स्थिति को ठीक बनाना चाहिए था । दुर्भाग्यवश, जैसा कि पहले ही कथन किया गया है, विचारण न्यायालय ने दंड प्रक्रिया संहिता की धारा 311 के अधीन विचारण न्यायालय को प्रदत्त व्यापक शक्तियों का वास्तविक रूप से अवलंब लिए बिना अभि. सा. 18 को पुनः बुलाने के संबंध में फाइल किए गए अपीलार्थी के आवदेन को खारिज करने में बहुत जल्दबाजी की है और विचारण न्यायालय ने यह भी सुनिश्चित नहीं किया है कि गंभीर अपराध के आहत द्वारा की गई शिकायत का उपचार किया है या नहीं । इस संदर्भ में, अपीलार्थी के काउंसेल द्वारा अवलंब लिए गए कुछ विनिश्चयों को लाभप्रद रूप से निर्दिष्ट किया जा सकता है । दंड प्रक्रिया संहिता, 1973 की धारा 301 और धारा 311 तथा भारतीय साक्ष्य अधिनियम, 1872 की धारा 165 के निर्वचन से संबंधित ऊपर निर्दिष्ट अपीलार्थी के विद्वान् काउंसेल द्वारा अवलंब लिए गए विभिन्न विनिश्चयों पर विचार करने के पश्चात् यह अभिनिर्धारित करना होगा कि उक्त विनिश्चयों में अधिकथित विभिन्न प्रतिपादनाओं से हमारे निष्कर्ष का समर्थन होता है कि दांडिक न्यायालय किसी अपराध का विचारण करते समय समाज और लोक हित में कार्य करते हैं । जैसाकि इस न्यायालय द्वारा जाहिरा

हबीबुल्लाह एच. शेख वाले मामले में अभिनिर्धारित किया गया है, दांडिक न्यायालय मूक दर्शक बना नहीं रह सकता । उसे सक्रिय रूप से भाग लेना चाहिए और दंड प्रक्रिया संहिता की धारा 311 तथा साक्ष्य अधिनियम, 1872 की धारा 165 के अधीन व्यापक शक्तियां निहित किए जाने के पश्चात् वर्तमान मामले जैसी स्थिति में जहां न्यायालय की जानकारी में यह लाया गया हो कि विचारण न्यायालय अर्थात् अभि. सा. 18 जो कानूनी प्राधिकारी है और जिसकी मौजूदगी में शनाख्त परेड कराई गई है और जो न्यायिक मजिस्ट्रेट भी है, के साक्ष्य में घोर विरोधाभास है, उसे लोक हित पर ध्यान देना चाहिए था और दंड प्रक्रिया संहिता की धारा 311 का अवलंब लेते हुए इस स्थिति में सुधार करना चाहिए था कि उक्त साक्षी को पुनः बुलाया जाता और लोक अभियोजक को यह निर्देष दिया जाता कि वह उक्त साक्षी से समुचित प्रश्न करे या न्यायालय ही साक्षी से प्रश्न करे और इस प्रकार स्पष्ट दिखाई देने वाली यह त्रुटि दूर हो सकती थी । यह दुर्भाग्य की बात है कि विचारण न्यायालय अभिलिखित किए गए साक्ष्य की प्रकृति की वास्तविकता को समझने में पूर्णतया असफल रहा है और अभि. सा. 18 के साक्ष्य के अभिलिखित किए जाने में हुई गंभीर कमी और त्रुटि पर ध्यान देने के संबंध में अपनी जिम्मेदारी को समझने में असफल रहा है । इस संदर्भ में यह कहना होगा कि अभियोजक भी अपना कर्तव्य पूरा करने में असफल रहे हैं जो वे साक्ष्य में आई कमी पर ध्यान न दे सके । हमारी सुविचारित राय में पुनरीक्षण आवेदन का निपटारा करते समय उच्च न्यायालय ने यह भी औपचारिक कथन करके कि अपीलार्थी कभी भी लिखित तर्क फाइल कर सकता है, वर्तमान मामले जैसी स्थिति में सही दृष्टिकोण नहीं अपनाया है । परिणामतः, यह न्यायालय निचले न्यायालयों को यह समझाना चाहता है कि किसी मुकदमे में विशेषकर दांडिक कार्यवाहियों के मामले में विचार करते समय भावुकता के बजाए निष्पक्ष दृष्टिकोण अपनाना चाहिए । (पैरा 18, 19, 21 और 31)

अवलंबित निर्णय

पैरा

[2013] ए. आई. आर. 2013 एस. सी. 3081 :
राजाराम यादव बनाम **बिहार राज्य और एक अन्य** । 32

विपर्यस्त निर्णय

[2007] (2007) 14 एस. सी. सी. 711 :
उमर मुहम्मद और अन्य बनाम **राजस्थान राज्य** । 30

विनिर्दिष्ट निर्णय

[2010] (2010) 6 एस. सी. सी. 1 :
सिद्धार्थ वशिष्ठ उर्फ **मनु शर्मा** बनाम **राष्ट्रीय राजधानी क्षेत्र, दिल्ली** ; 13,24

[2006] (2006) 8 एस. सी. सी. 641 :
सुगा राम उर्फ **छुगा राम** बनाम **राजस्थान राज्य और अन्य** ; 13

[2004] (2004) 4 एस. सी. सी. 158 :
जाहिरा हबीबुल्लाह एच. शेख और एक अन्य बनाम **गुजरात राज्य और अन्य** ; 23,31

[2003] (2003) 8 एस. सी. सी. 625 :
के. पांडुरंगन बनाम **एस. एस. आर. वेलुसामी और एक अन्य** ; 13

[2001] (2001) 3 एस. सी. सी. 462 :
जे. के. इंटरनेशनल बनाम **राष्ट्रीय राजधानी क्षेत्र, दिल्ली और अन्य** ; 13,22

[1999] (1999) 7 एस. सी. सी. 467 :
शिव कुमार बनाम **हुकमचंद और एक अन्य** ; 15,28

[1999] (1999) 6 एस. सी. सी. 110 :
राजेन्द्र प्रसाद बनाम **स्वापक सेल** ; 13,26

[1991] (1991) सप्ली. 1 एस. सी. सी. 271 :
मोहनलाल श्यामजी सोनी बनाम **भारत संघ और एक अन्य** । 13,23

अपीली (दांडिक) अधिकारिता : 2013 की दांडिक अपील सं. 2044.

2011 के दांडिक प्रकीर्ण मामला सं. 1746 में उड़ीसा उच्च न्यायालय की कटक न्यायपीठ के तारीख 5 जनवरी, 2012 के निर्णय और आदेश के विरुद्ध अपील ।

पक्षकारों की ओर से सर्वश्री कोलीन गोनसाल्विस (ज्येष्ठ अधिवक्ता), अमी शुक्ला, (सुश्री) ज्योति मेंदीरत्ता, राणा मुखर्जी, मेरूसागर सामंतरे, (सुश्री) कस्तूरिका कौमुदी, शिबाशीष मिश्रा और अमित शर्मा

न्यायालय का निर्णय न्यायमूर्ति फकीर मुहम्मद इब्राहीम कलीफुल्ला ने दिया ।

न्या. कलीफुल्ला – इजाजत प्रदान की जाती है ।

2. यह अपील 2011 के दांडिक प्रकीर्ण मामला सं. 1746 में कटक उच्च न्यायालय के तारीख 5 जनवरी, 2012 के आदेश के विरुद्ध की गई है । इत्तिलाकर्ता हमारे समक्ष अपीलार्थी है । इत्तिलाकर्ता कैथोलिक सन्यासिनी बताई गई है और उसके अनुसार हमलावरों द्वारा उसके साथ बर्बरतापूर्ण हमला किया गया, उत्पीड़ित किया गया और सामूहिक बलात्कार किया गया और इन हमलावरों को सेशन मामले में अभियुक्त बनाया गया था जिसका विचारण जिला और सेशन न्यायाधीश द्वारा सेशन विचारण मामला सं. 243/2010 के रूप में किया गया था ।

3. आरोप पत्र में की अंतर्वस्तु पर संक्षिप्त रूप से विचार करते हुए हमारा यह निष्कर्ष है कि स्वामी लक्ष्मानंद सरस्वती की हत्या जिला कंधामल में की गई है जिसके परिणामस्वरूप संपूर्ण जिले में सांप्रदायिक हिंसा फैल गई । अपीलार्थी और एक अन्य जेसुइट फादर जिनका नाम थॉमस चेलन है और कुछ अन्य व्यक्तियों ने जो दिव्य ज्योति पैस्ट्रोल सेंटर, कंजामेंडी, जिला कंधामल नामक जेसूट होम के निवासी हैं, अनियंत्रित भीड़ द्वारा हमला किए जाने के भय से ग्राम कंजामेंडी के प्रहलाद नामक प्रधान के यहां तारीख 24 अगस्त, 2008 को शरण ले ली ।

4. तारीख 25 अगस्त, 2008 को अपीलार्थी के अनुसार लगभग 1.00 बजे अपराह्न में लगभग 40 से 50 व्यक्तियों की भीड़ प्रहलाद प्रधान के निवास पर आई, वे इत्तिलाकर्ता और अन्य पुजारियों को खींचकर सड़क पर ले आए और भीड़ में कुछ लोगों ने उसे उत्पीड़ित किया और बर्बरतापूर्ण हमला भी किया । यह कथन किया गया है कि अपीलार्थी को "जन विकास" नामक निकट स्थित भवन में खींचकर ले गए जहां पर आठवें अभियुक्त ने, जो इस मामले में प्रत्यर्थी सं. 9 है, अभिकथित रूप से अपीलार्थी के साथ बलात्संग किया जबकि अन्य अभियुक्तों ने उसे उत्पीड़ित करने के अतिरिक्त उसके साथ उक्त अपराध कारित किए जाने में सहायता की ।

5. यह कथन किया गया है कि अपीलार्थी को तत्पश्चात् के. नवगांव के खंड विकास अधिकारी के सुपुर्द कर दिया गया जिसने अपीलार्थी और फादर जेसुइट चेलन को आवश्यक कार्रवाई के लिए पुलिस थाना बलीगुडा

के निरीक्षक भारसाधक के सुपुर्द कर दिया । तत्पश्चात्, अपीलार्थी ने तारीख 26 अगस्त, 2008 को शिकायत फाइल की जिसके पश्चात् बलीगुडा उपखंड अस्पताल में उसकी चिकित्सा परीक्षा की गई और उसके पहने हुए कपड़ों को सील किया गया और राज्य न्यायालयिक प्रयोगशाला, भुवनेश्वर भेज दिया गया साथ ही चिकित्सा अधिकारी द्वारा प्राप्त किए गए प्रदर्शों को भी भेज दिया गया । यह कथन किया गया कि वे सामग्री तत्पश्चात् केन्द्रीय न्यायालयिक प्रयोगशाला, कोलकाता को डीएनए परीक्षण के लिए भेज दी गई है ।

6. अपीलार्थी ने अपनी शिकायत में यह कथन किया है कि वह हमलावरों की शनाख्त कर सकती है यद्यपि वह उनके नाम नहीं जानती है ।

7. जिस मुद्दे पर अब हमें विचार करना है वह अभिकथित त्रुटिपूर्ण साक्ष्य से संबंधित है जो अभि. सा. 18 द्वारा दिया गया है और इसी साक्षी के समक्ष तारीख 5 जनवरी, 2009 को शनाख्त परेड कराई गई थी । अभि. सा. 18 उपखंड न्यायिक मजिस्ट्रेट, कटक के रूप में उस तारीख को कार्यरत था । अभि. सा. 18 की परीक्षा के दौरान, दंड प्रक्रिया संहिता, 1973 की अनुसूची XLVII में विहित प्रारूप में उसके द्वारा अभिलिखित कार्यवाहियों के साथ प्रदर्श 8 के रूप में चिन्हांकित की गई हैं । साक्षियों के हस्ताक्षर प्रदर्श 8/1 से 8/5 के रूप में चिन्हांकित किए गए हैं । इस साक्षी द्वारा किया गया शनाख्त परेड का वर्णन प्रदर्श 8/6 के रूप में चिन्हांकित किया गया है ।

8. अपीलार्थी की ओर से हाजिर होने वाले विद्वान् वरिष्ठ काउंसेल श्री कोलीन गोनसाल्विस ने यह दलील दी है कि प्रदर्श 8 के न तो नोट में और न ही प्रारूप के किसी कॉलम में और न ही तारीख 5 जनवरी, 2009 को अभि. सा. 8 द्वारा अभिलिखित कार्यवाहियों में प्रत्यर्थी सं. 9 के आचरण के संबंध में संदिग्ध अपराधियों अर्थात् प्रत्यर्थी सं. 3 और 9 की शनाख्त के सिवाए अपीलार्थी द्वारा कोई भी कथन किए जाने का निर्देश नहीं किया गया है और संतोष कुमार स्वाइन नाम के विचाराधीन बंदी की गलत शनाख्त किए जाने का उल्लेख है । इसके पश्चात् विद्वान् वरिष्ठ काउंसेल ने हमारा ध्यान अभि. सा. 18 के उस विशिष्ट कथन की ओर दिलाया है जो उसने अपनी मुख्य परीक्षा के दौरान दिया है और यह कथन इस प्रकार है :–

> "सिस्टर मीना बरूआ ने अभियुक्त संतोष पटनायक की शनाख्त की है कि इस अपराधी ने अपीलार्थी को थप्पड़ मारा था, उसकी

साड़ी खींची थी, उसके स्तन दबाए थे और अन्य कोई स्पष्ट कृत्य नहीं किया था ।"

9. अपीलार्थी की यह शिकायत है कि जब अभि. सा. 18 द्वारा ऐसा त्रुटिपूर्ण साक्ष्य प्राधिकृत अधिकारी के रूप में दिया गया था जिसने शनाख्त परेड कराई थी, तब अभि. सा. 18 को परीक्षा के दौरान अभियोजन पक्ष द्वारा कोई सुझाव तक नहीं दिया गया था और इस कारण से उक्त कथन, जहां तक प्रत्यर्थी सं. 9 के संबंध में अभि. सा. 18 के साक्ष्य का प्रश्न है, असंविवादित रहता है । विद्वान् वरिष्ठ काउंसेल ने यह दलील दी है कि चूंकि जो कथन अभि. सा. 18 की मुख्य परीक्षा में अन्तर्विष्ट है वह इस संबंध में है कि यद्यपि अपीलार्थी ने उसे बताया था कि थप्पड़ मारने के अभिकथित स्पष्ट कार्य के अतिरिक्त अपीलार्थी की साड़ी भी खींची गई थी और उसके स्तन दबाए गए थे । इसके अतिरिक्त कुछ और कारित नहीं किया गया था, अभियोजन पक्ष के लिए यह आवश्यक है कि वह अभि. सा. 18 को प्रदर्श 8 में उल्लिखित उसके पूर्व कथन को दिखाता है ताकि उसके साक्ष्य में कोई भी अस्पष्टता शेष नहीं रह पाती । अन्यथा, इससे अभियोजन पक्षकथन पर गंभीर रूप से प्रतिकूल प्रभाव पड़ता और अपीलार्थी की संपूर्ण शिकायत जो अभियुक्त के विरुद्ध की गई थी, निष्फल हो जाती । विद्वान् वरिष्ठ काउंसेल ने यह भी दलील दी है कि जब अपीलार्थी की प्रतिपरीक्षा कराई गई थी तब उसने अभि. सा. 18 के उपर्युक्त साक्ष्य का खंडन किया था जैसा कि पैरा 26 में उल्लिखित है :–

> "..... यह वास्तविकता नहीं है कि मैंने उपखंड न्यायिक मजिस्ट्रेट कटक के समक्ष अभियुक्त संतोष कुमार पटनायक की शनाख्त करते समय यह कथन किया था कि उक्त अभियुक्त ने मुझे थप्पड़ मारा था, मेरी साड़ी खींची थी और मेरे स्तन दबाए थे और उसने अन्य कोई अपराध नहीं किया था । यह सत्य है कि जब मैंने अभियुक्त संतोष **उर्फ** मीटू पटनायक की शनाख्त की थी तब मैंने मजिस्ट्रेट के समक्ष यह कथन नहीं किया था कि उक्त अभियुक्त मेरी जंघाओं पर बैठा था और जन विकास केन्द्र में घटना के दिन मेरे साथ बलात्संग किया था.....।"

10. उपर्युक्त पृष्ठभूमि के आधार पर अपीलार्थी के अनुसार वह विशेष लोक अभियोजक के पास गई थी ताकि वह अभि. सा. 18 द्वारा साक्ष्य में जानबूझकर दिए गए उक्त त्रुटिपूर्ण कथन को सही करा सके और अभि. सा. 18 को यह दिखा सके कि उसने जो कुछ पहले कहा है वह शनाख्त

परेड संबंधी रिपोर्ट में दर्शित नहीं हो रहा है और न ही उपाबंध में जिसे प्रदर्श 8 के रूप में चिन्हांकित किया गया है । अपीलार्थी के अनुसार, विशेष लोक अभियोजक द्वारा इस संबंध में कोई भी कदम उठाने की चिंता न किए जाने पर, स्वयं अपीलार्थी ने एक आवेदन विद्वान् विचारण न्यायाधीश के समक्ष तारीख 1 मई, 2011 को फाइल किया । विद्वान् सेशन न्यायाधीश की तारीख 16 मई, 2011 की कार्यवाहियों में अपीलार्थी द्वारा फाइल किए गए आवेदन के प्रति निर्देश अभि. सा. 18 को पुनः बुलाने के लिए विद्वान् विचारण न्यायाधीश द्वारा यह मत व्यक्त किया गया है कि यह आवेदन आहत के कहने पर फाइल किया गया है जिसे विशेष लोक अभियोजक द्वारा फाइल नहीं किया गया है अतः अपीलार्थी को सुनने के पश्चात् यह आवेदन मात्र पोषणीयता के आधार पर खारिज कर दिया गया ।

11. उक्त आदेश से व्यथित होकर, अपीलार्थी ने 2011 के दांडिक प्रकीर्ण मामला सं. 1746 के माध्यम से कटक उच्च न्यायालय के समक्ष आवेदन किया जिसमें पारित किया गया आदेश आक्षेपित है । उच्च न्यायालय ने दंड प्रक्रिया संहिता की धारा 301 का निर्देश करते हुए यह मत व्यक्त किया है कि जहां तक विचारण का संबंध है अपीलार्थी का इत्तिलाकर्ता के रूप में बहुत ही सीमित अधिकार है, और यह कि वह कतिपय साक्षियों को पुनः बुलाने के लिए आवेदन फाइल कर ही नहीं सकती थी और यह कि ऐसा कदम उठाना इत्तिलाकर्ता या किसी प्राइवेट व्यक्ति को दंड प्रक्रिया संहिता की धारा 301 के अधीन प्रदत्त प्राधिकार की सीमा से परे है । उच्च न्यायालय ने यह भी मत व्यक्त किया है कि विचारण न्यायालय के मन में यह विश्वास जगाने का अर्थ है कि विचारण न्यायाधीश उस तथ्य को अनदेखा करे जो अभिलेख पर नहीं है या असंगत है और उचित निर्णय दे दिया जाए और इसके पश्चात् यह मत व्यक्त किया है कि अपीलार्थी लिखित दलील फाइल करने के लिए स्वतंत्र है जिसमें विचारण न्यायालय को ऐसी लिखित दलीलों को स्वीकार करना होगा और उन पर निर्णय देते समय विचार करना होगा ।

12. इस अपील में आक्षेपित आदेशों का खंडन करते हुए विद्वान् वरिष्ठ काउंसेल श्री कोलीन गोनसाल्विस ने यह दलील दी है कि इस प्रकृति के मामले में जिसमें आहत प्रत्यर्थी-अभियुक्त के हाथों पैशाचिक अपराध का शिकार हुआ हो और न्यायिक मजिस्ट्रेट ने, जिससे यह प्रत्याशा की जाती है कि वह न्यायालय के समक्ष शनाख्त परेड कराए जाने का यथार्थ रूप से वर्णन करे, जानबूझकर अपकथन किया जिससे प्रदर्श 8 का

उल्लंघन होता है और प्रदर्श 8 उसके द्वारा तैयार किया गया अभिलेख है, अभियोजन पक्ष और न्यायालय का यह कर्तव्य है कि वह यह सुनिश्चित करे कि ऐसे किसी भी साक्ष्य को अभिलेख पर प्रस्तुत करने के लिए अनुज्ञात नहीं किया जाना चाहिए जिससे न्यायालय भ्रमित हो या जो ऐसे दस्तावेजों का पूर्णतया खंडन करता हो जिनका लिखने वाला स्वयं साक्षी हो । विद्वान् वरिष्ठ काउंसेल ने यह दलील दी है कि इस न्यायालय के अनेक विनिश्चयों के आधार पर दंड प्रक्रिया संहिता, 1973 की धारा 311 के साथ पठित धारा 301 के निर्वचन और आहत के अपीलार्थी के रूप में भयंकर त्रुटि का संशोधन करने के लिए समुचित कदम उठाए जाने की ईप्सा के आधार पर यह दलील दी है कि विद्वान् विचारण न्यायाधीश तथा उच्च न्यायालय ने विधि की गंभीर त्रुटि की है ।

13. विद्वान् वरिष्ठ काउंसेल ने यह दलील दी है कि जब एक बार अपीलार्थी ने विद्वान् विशेष लोक अभियोजक तथा विद्वान् विचारण न्यायाधीश को अभिलेख पर प्रस्तुत स्पष्ट त्रुटि के बारे में बता दिया था तब दंड प्रक्रिया संहिता की धारा 311 के अधीन विद्वान् विचारण न्यायाधीश को निहित असीम शक्तियों को ध्यान में रखते हुए, त्रुटियों को ठीक करने के लिए समुचित कदम उठाए जाने चाहिए थे और विशेष लोक अभियोजक को निदेश दिया जाना चाहिए था कि वे अभि. सा. 18 को न्यायालय में पुनः बुलाकर उसके कथन के विशेष भाग को दिखाए । अतः विद्वान् वरिष्ठ काउंसेल ने यह दलील दी है कि त्रुटियों को दूर करने में विचारण न्यायाधीश तथा उच्च न्यायालय की उन आदेशों को पारित करने में हुई असफलता जो इस अपील में आक्षेपित हैं के परिणामस्वरूप अपीलार्थी ने इस न्यायालय में आवेदन किया है । **मोहनलाल श्यामजी सोनी** बनाम **भारत संघ और एक अन्य**[1], **राजेन्द्र प्रसाद** बनाम **स्वापक सेल**[2], **सिद्धार्थ वशिष्ठ** उर्फ **मनु शर्मा** बनाम **राष्ट्रीय राजधानी क्षेत्र, दिल्ली**[3], **के. पांडुरंगन** बनाम **एस. एस. आर. वेलुसामी और एक अन्य**[4], **जे. के. इंटरनेशनल** बनाम **राष्ट्रीय राजधानी क्षेत्र, दिल्ली और अन्य**[5] और **सुगा राम** उर्फ **छुगा राम** बनाम **राजस्थान राज्य और अन्य**[6] वाले मामलों में किए गए विनिश्चयों

---

[1] (1991) सप्ली. 1 एस. सी. सी. 271.
[2] (1999) 6 एस. सी. सी. 110.
[3] (2010) 6 एस. सी. सी. 1.
[4] (2003) 8 एस. सी. सी. 625.
[5] (2001) 3 एस. सी. सी. 462.
[6] (2006) 8 एस. सी. सी. 641.

का अवलंब लिया गया है ।

14. प्रथम प्रत्यर्थी अर्थात् राज्य की ओर से हाजिर होने वाले विद्वान् स्थायी काउंसेल ने केवल यह दलील दी है कि अपीलार्थी ने कभी भी विशेष लोक अभियोजक से दंड प्रक्रिया संहिता की धारा 301 के अधीन उपचार कराने के लिए संपर्क नहीं किया, अतः विद्वान् विचारण न्यायाधीश तथा उच्च न्यायालय के मतों को गलत नहीं कहा जा सकता है । विद्वान् स्थायी काउंसेल ने मात्र यह दलील दी है कि अभि. सा. 18 की परीक्षा 30 जुलाई, 2010 को उस समय कराई गई थी जब वर्तमान आवेदन अपीलार्थी के कहने पर विलंब से अर्थात् 11 मई, 2011 को फाइल किया गया था जो कि लगभग 10 मास पश्चात् फाइल किया गया था, अतः विलंब के आधार पर भी अपीलार्थी की शिकायत को दूर नहीं किया जा सकता है ।

15. विद्वान् काउंसेल श्री राणा मुखर्जी ने नवें प्रत्यर्थी की ओर से **शिव कुमार** बनाम **हुकमचंद और एक अन्य**[1] वाले मामले का अवलंब लेते हुए यह दलील दी है कि अपीलार्थी को किसी भी उपचार के पाने का अधिकार नहीं है जैसाकि विचारण न्यायाधीश और उच्च न्यायालय के समक्ष प्रार्थना की गई है ।

16. अपीलार्थियों के विद्वान् वरिष्ठ काउंसेल, लोक अभियोजक, राज्य के काउंसेल और नवें प्रत्यर्थी के काउंसेल को सुनने तथा प्रदर्श 8, अभि. सा. 18 और अभि. सा. 25 जो आहत है, के साक्ष्य का परिशीलन करने के पश्चात् हमारी यह सुविचारित राय है कि विद्वान् विचारण न्यायाधीश तथा उच्च न्यायालय के आदेश निरानंद रूप से असफल हो गए हैं जो अभिकथित रूप से अभियुक्त के विरुद्ध दंड संहिता की धारा 376(2)(छ) के अधीन आरोप की प्रकृति पर विचार किए जाने के मामले में मेल नहीं खाते हैं जिसमें न्यायिक अधिकारी (अभि. सा. 18) ने कानूनी प्राधिकारी के रूप में ऐसी शनाख्त परेड कराई जो पूर्णतया अनुचित और गलत कथन के आधार पर है जो शनाख्त परेड अर्थात् प्रदर्श 8 के अभिलेख के अनुसरण में नहीं है और इसी कारण इसमें न्याय करते समय भारी अवैधता कारित किए जाने की गुंजाइश है । तथापि, हमें आरंभ में ही यह कहना होगा कि इस निर्णय में हम जो भी मत व्यक्त करें वे मुख्यतः ऐसे दस्तावेजी साक्ष्य की प्रकृति के हों जो साक्ष्य विचारण न्यायालय के समक्ष अभि. सा. 18 और अभि. सा. 25 की परीक्षा किए जाने के दौरान अभिलिखित किए गए हों ।

---

[1] (1999) 7 एस. सी. सी. 467.

17. इस न्यायालय की जानकारी में लाए गए मुद्दे के प्रति निर्देश उक्त साक्ष्य का परिशीलन करने के पश्चात्, हमारा यह दृढ़ मत है कि जैसे ही विचारण न्यायालय की जानकारी में मौखिक साक्ष्य की अविश्वसनीयता लाई गई थी तब ही उसके द्वारा समुचित कार्यवाही की जानी चाहिए थी और विचारण न्यायालय की इस असफलता से गंभीर रूप से निश्चय ही अन्याय हुआ है, दुर्भाग्यवश हमारी सुविचारित राय में ऐसा प्रतीत होता है कि उच्च न्यायालय ने बहुत ही औपचारिक दृष्टिकोण अपनाया है जबकि उसे यह पता लगाना चाहिए था कि ऐसी स्थिति में विचारण न्यायालय को किस समुचित प्रक्रिया का पालन करना चाहिए था । उच्च न्यायालय ने भी दंड प्रक्रिया संहिता की धारा 301 के अधीन मात्र यह कहकर भारी अवैधता कारित की है कि आहत के लिए प्राइवेट पक्षकार के रूप में ऐसी गलती को सुधारने के लिए कोई भी प्रभावी कदम उठाने की कोई गुंजाइश नहीं है जो ऐसे कानूनी साक्षी ने कारित की हो जिससे यह प्रत्याशा की जाती हो कि वह दांडिक न्यायालय के समक्ष साक्ष्य देते समय शत-प्रतिशत निष्पक्षता बनाए रखेगा । यदि ऐसा साक्षी एक न्यायिक अधिकारी हो जिसका साक्ष्य उसके न्यायिक अधिकारी होने के आधार पर, न्यायालय के समक्ष इसलिए अधिक महत्व रखता हो कि वह कानूनी साक्षी है जिसे शनाख्त परेड कराने के लिए प्राधिकृत किया गया है, तब ऐसे साक्षी के लिए यह आवश्यक है कि वह किसी भी पक्षकार को अभिलेख के प्रतिकूल गलत कथन देकर लाभ उठाने की गुंजाइश छोड़े बिना पूर्णतया सत्यता बनाए रखे । अतः हमारा यह निष्कर्ष है कि इस अपील में किए गए आक्षेपित आदेशों में भारी अनियमितता है ।

18. हमारा यह समाधान हो गया है कि अपीलार्थी बहुत ही बेतुके अपराध का शिकार है और उसके द्वारा आहत के रूप में की गई शिकायतों पर, हमारी सुविचारित राय में विचारण न्यायालय तथा उच्च न्यायालय को उसके आवेदन को दंड प्रक्रिया संहिता की धारा 301 के प्रति निर्देश बिना सोचे-समझे खारिज करने के बजाए उन पर विचार करना चाहिए था कि अभि. सा. 18 का किस प्रकार मौखिक साक्ष्य प्रदर्श 8 से मेल नहीं खाता है जो कि स्वयं उसके द्वारा तैयार किया गया है और समुचित रूप से अभि. सा. 18 को या तो स्वयं विशेष लोक अभियोजक द्वारा आवश्यक कदम उठाने के लिए बुलाया जाना चाहिए था या न्यायालय के समक्ष भी ऐसी कोई परेशानी नहीं थी कि वह उक्त साक्षी को न्यायालय में पुनः बुलाता और उससे समुचित प्रश्न करता । अतः यह सुस्थापित है कि समाज के विरुद्ध किया गया कोई भी अपराध, यदि कोई भी साक्षी विशेषकर कानूनी

साक्षी गलत कथन देता है जो कि उसके अपने अभिलेख से मेल नहीं खाता है तब ऐसी स्थिति में यह बात हमारी समझ से बाहर है कि विचारण न्यायालय तथा उच्च न्यायालय ने इस त्रुटि का समाधान कराने में क्यों संकोच किया और इसके बजाए औपचारिक दृष्टिकोण अपनाया और न्यायालयों ने यह भी सुनिश्चित नहीं किया कि किसी भी पक्षकार पर कोई भी प्रतिकूल प्रभाव नहीं पड़ रहा है । हमारी सुविचारित राय में ऐसी विशेष स्थिति में निचले न्यायालयों को दंड प्रक्रिया संहिता की धारा 301 और 311 का समाधान किया जाना चाहिए था और यह सुनिश्चित करना चाहिए था कि विचारण सही दिशा में किया गया है ।

19. दांडिक न्यायशास्त्र के अनुसार, जब अपराध समाज के विरुद्ध किया जाता है तब आहत ही ऐसा अभागा होता है जिसे वास्तविक रूप से हानि होती है, अतः राज्य के लिए यह आवश्यक है और अभियोजन पक्ष को यह सुनिश्चित करना होगा कि इस संबंध में कोई भी प्रयास शेष नहीं रहा है । न्यायालय का भी यही कर्तव्य और बाध्यता है कि वह दांडिक मामले के विचारण के दौरान सचेत और सावधान रहे और यह सुनिश्चित करे कि विधि के अनुसरण में उसके समक्ष प्रस्तुत किए गए अभिलिखित साक्ष्य से संपूर्ण महत्वपूर्ण जानकारी प्राप्त हो रही है । यह भी कहा जा सकता है कि इस प्रक्रिया में न्यायालय को अपनी जिम्मेदारी के प्रति सचेत रहना चाहिए और कई बार ऐसा हुआ है कि जब अभियोजन पक्ष जानबूझकर या अनवधानता से महत्वपूर्ण साक्ष्य या किसी साक्षी के स्पष्ट कथन को न्यायालय के समक्ष प्रस्तुत नहीं करता है ताकि किसी पक्षकार का समर्थन हो या किसी पक्षकार पर प्रतिकूल प्रभाव पड़े, तब ऐसी स्थिति में न्यायालय को मामले में हस्तक्षेप करने में संकोच नहीं करना चाहिए और अभियोजन पक्ष को स्थिति को स्पष्ट करने के लिए प्रणोदित करे या स्वयं कार्यवाही करे और अभिलेख को ठीक प्रकार समझे । न तो अभियोजन पक्ष को और न ही न्यायालय को ऐसी स्थितियों में मूक दर्शक बने रहना चाहिए । जैसेकि वर्तमान मामले में भी यदि साक्षी द्वारा गलत कथन किया गया है जो कि साक्षी के अपने अभिलेख के प्रतिकूल है और अभियोजन पक्ष कार्यवाहियों के उस प्रक्रम पर या उसके पश्चात् स्थिति को समझने में असफल रहा है जब वह तथ्य उजागर किया गया था और उसके पश्चात् भी अभियोजन पक्ष मूक बना रहा, ऐसी स्थिति में न्यायालय को तत्काल कार्रवाई करनी चाहिए थी और स्थिति को समुचित रूप से सही करने के लिए आवश्यक कदम उठाने चाहिए थे । दंड प्रक्रिया संहिता के संपूर्ण

सिद्धांत के अंतर्गत यह परिकल्पना की गई है कि अभियुक्त के विरुद्ध अभिकथित अपराध में कार्यवाही करने के लिए सुस्पष्ट तंत्र होना चाहिए और जिससे यह सुनिश्चित हो सके कि दोषी बचकर न जाए और निर्दोष को दंडित न किया जाए । उपरोक्त पृष्ठभूमि को ध्यान में रखते हुए, हमारा यह मत है कि वर्तमान मामले में जो मुद्दा है उसमें कार्यवाही की जानी चाहिए ।

20. उक्त दृष्टिकोण को अपनाते हुए, हम दंड प्रक्रिया संहिता की धारा 301 और 311 को निर्दिष्ट कर रहे हैं :–

> 301. **लोक अभियोजकों द्वारा हाजिरी** – (1) किसी मामले का भारसाधक लोक अभियोजक या सहायक लोक अभियोजक किसी न्यायालय में, जिसमें वह मामला जांच, विचारण या अपील के अधीन है, किसी लिखित प्राधिकार के बिना हाजिर हो सकता है और अभिवचन कर सकता है ।
>
> (2) किसी ऐसे मामले में यदि कोई प्राइवेट व्यक्ति किसी न्यायालय में किसी व्यक्ति को अभियोजित करने के लिए किसी प्लीडर को अनुदेश देता है तो मामले का भारसाधक लोक अभियोजक या सहायक लोक अभियोजक अभियोजन का संचालन करेगा और ऐसे अनुदिष्ट प्लीडर उसमें लोक अभियोजक या सहायक लोक अभियोजक के निदेश के अधीन कार्य करेगा और न्यायालय की अनुज्ञा से उस मामले में साक्ष्य की समाप्ति पर लिखित रूप में तर्क पेश कर सकेगा ।
>
> 311. **आवश्यक साक्षी को समन करने या उपस्थित व्यक्ति की परीक्षा करने की शक्ति** – कोई न्यायालय इस संहिता के अधीन किसी जांच, विचारण या अन्य कार्यवाही के किसी प्रक्रम में किसी व्यक्ति को साक्षी के तौर पर समन कर सकता है या किसी ऐसे व्यक्ति की, जो हाजिर हो, यद्यपि वह साक्षी के रूप में समन न किया गया हो, परीक्षा कर सकता है, किसी व्यक्ति को, जिसकी पहले परीक्षा की जा चुकी है पुनः बुला सकता है और उसकी पुनः परीक्षा कर सकता है ; और यदि न्यायालय को मामले के न्यायसंगत विनिश्चय के लिए किसी ऐसे व्यक्ति का साक्ष्य आवश्यक प्रतीत होता है तो वह ऐसे व्यक्ति को समन करेगा और उसकी परीक्षा करेगा या उसे पुनः बुलाएगा और उसकी पुनः परीक्षा करेगा ।

21. उपरोक्त कानूनी उपबंधों को निर्दिष्ट करने के पश्चात् हम यह विवेचना करते हैं कि धारा 301(2) के अधीन दांडिक कार्यवाहियों में उनके संचालन के संबंध में प्राइवेट व्यक्ति के भाग लेने के अधिकार की अपनी परिसीमाएं हैं, धारा 311 के संघटकों के अधीन विचारण न्यायालय को इस संबंध में सशक्त किया गया है कि वह ठीक ऐसे निष्कर्ष पर पहुंच सके ताकि वह साक्षियों की परीक्षा के मामले में स्थिति का समुचित रूप से आकलन कर सके । अतः वर्तमान मामले जैसी स्थिति को ध्यान में रखते हुए धारा 301 और 311 का एक साथ परिशीलन करने पर यही कहना होगा कि विचारण न्यायालय को इस पर विचार करना चाहिए था कि धारा 311 का अवलंब लिया जाना उचित विनिश्चय पर पहुंचने के लिए अपेक्षित है या नहीं । दूसरे शब्दों में यह कहा जा सकता है कि यदि विचारण न्यायालय के विचार में भी धारा 301(2) का अवलंब लिया जाना अनुज्ञात नहीं था, तब भी अभि. सा. 18 द्वारा दिए गए असंगत साक्ष्य पर, उसके समक्ष प्रस्तुत किए जाने पर इस संबंध में विचार किया जाना चाहिए था कि अवलंब लिए जाने के लिए धारा 311 की व्यापकता कितनी है और स्थिति को ठीक बनाना चाहिए था । दुर्भाग्यवश, जैसा कि पहले ही कथन किया गया है, विचारण न्यायालय ने दंड प्रक्रिया संहिता की धारा 311 के अधीन विचारण न्यायालय को प्रदत्त व्यापक शक्तियों का वास्तविक रूप से अवलंब लिए बिना अभि. सा. 18 को पुनः बुलाने के संबंध में फाइल किए गए अपीलार्थी के आवदेन को खारिज करने में बहुत जल्दबाजी की है और विचारण न्यायालय ने यह भी सुनिश्चित नहीं किया है कि गंभीर अपराध के आहत द्वारा की गई शिकायत का उपचार किया है या नहीं । इस संदर्भ में, अपीलार्थी के काउंसेल द्वारा अवलंब लिए गए कुछ विनिश्चयों को लाभप्रद रूप से निर्दिष्ट किया जा सकता है ।

22. **जे. के. इंटरनेशनल** (उपरोक्त) वाले मामले में किए गए विनिश्चय में इस न्यायालय ने इस संबंध में मत व्यक्त किया है कि शिकायतकर्ता उसके कहने पर आरंभ की गई दांडिक कार्यवाहियों के दौरान किस सीमा तक वह अपनी शिकायतों का अनुतोष पाने की ईप्सा कर सकता है । इस निर्णय के पैरा 8, 9, 10 और 12 के कुछ भाग निम्न प्रकार निर्दिष्ट किए जा रहे हैं :–

> 8. ....फिर न्यायालय से फायदा ही क्या है यदि शिकायतकर्ता से यह कहा जाए कि उसके मामले की बिल्कुल भी कोई सुनवाई नहीं होगी भले ही उसके द्वारा संस्थित की गई कार्यवाहियां अभिखंडित ही

क्यों न हो जाए । उसे यह कहकर सांत्वना नहीं दी जा सकती है कि यदि दांडिक कार्यवाहियां अभिखंडित कर दी जाती हैं तब उसे यह अधिकार होगा कि वह उच्चतर फोरम के समक्ष उसे चुनौती दे सके ।

9. दंड प्रक्रिया संहिता, 1973 (जिसे इसमें इसके पश्चात् संक्षेप में 'संहिता' कहा गया है) के अधीन परिकल्पित सिद्धांत से यह उपदर्शित होता है कि वह व्यक्ति जो कारित किए गए अपराध से व्यथित है, उसे मात्र इस कारण से न्यायालय की कार्यवाहियों से पूर्णतया वंचित नहीं किया जा सकता कि पुलिस ने अन्वेषण का कार्य संभाल लिया है और उन्होंने आरोप पत्र फाइल कर दिया है । चूंकि न्यायालय ने अपराध का संज्ञान ले लिया है, इसलिए शिकायतकर्ता को अपनी शिकायत का समाधान करने के लिए न्यायालय में आवेदन करने से उसे यह तथ्य भी अपवर्जित करने के लिए पर्याप्त नहीं है .....।

(बल देने के लिए रेखांकन किया गया है ।)

10. उक्त उपबंध 'जांच और विचारण से संबंधित सामान्य उपबंध' नामक अध्याय के अंतर्गत आते हैं । जब किसी प्राइवेट व्यक्ति को सेशन न्यायालयों में भी ऐसी भूमिका निभाने के लिए अनुज्ञात किया जाता है, यद्यपि यह सीमित भूमिका है, तब यह दर्शित करना पर्याप्त होगा कि यदि प्राइवेट व्यक्ति व्यथित है, तब उसे मात्र इस कारण से दांडिक न्यायालय की कार्यवाहियों से वंचित नहीं किया जा सकता है कि मामले में पुलिस द्वारा आरोप पत्र फाइल कर दिया गया है । हमें यह भी कहना होगा कि न्यायालय को यह शक्ति दी गई है कि वह ऐसे प्राइवेट व्यक्ति को सेशन न्यायालय सहित न्यायालयों में अपने लिखित तर्क फाइल करने के लिए अनुज्ञात कर सकता है । यदि वह ऐसे लिखित तर्क प्रस्तुत करता है, तब न्यायालय का यह कर्तव्य होगा कि वह निर्णय देने से पूर्व ऐसे तर्कों पर विचार करे ।

12. ..... सेशन न्यायालय में अभियोजन किए जाने के लिए प्राइवेट व्यक्ति की जो भूमिका है उसे उपरोक्त रूप में स्पष्ट किया गया है । इन बातों से यह दर्शित होता है कि व्यथित प्राइवेट व्यक्ति को न्यायालय की कार्यवाहियों से ऐसी स्थिति में दूर नहीं रखा जा सकता है जब दांडिक न्यायालय पुलिस द्वारा प्रस्तुत की गई रिपोर्ट के

आधार पर अपराधों का संज्ञान लेता है । इस सच्चाई को अनदेखा नहीं किया जा सकता है कि ऐसे लगभग सभी मामलों में मुख्य बात एक या अधिक व्यक्तियों की यह शिकायत ही होती है कि वे अभियुक्त द्वारा उन पर किए गए अपराध का शिकार हुए हैं ।"

(बल देने के लिए रेखांकन किया गया है ।)

23. **जाहिरा हबीबुल्लाह एच. शेख और एक अन्य** बनाम **गुजरात राज्य और अन्य**[1] वाले एक प्रसिद्ध मामले में इस न्यायालय ने यह दोहराया है कि दांडिक न्यायालयों द्वारा विवेकशील भूमिका निभाई जानी चाहिए ताकि यह सुनिश्चित किया जा सके कि न्यायालय भारतीय साक्ष्य अधिनियम, 1872 की धारा 165 के साथ पठित दंड प्रक्रिया संहिता, 1973 की धारा 311 के अधीन उपलब्ध शक्ति की व्यापकता का प्रयोग करते हुए वास्तविकता को समझने के लिए जागरुक है । उक्त निर्णय का सुसंगत भाग पैरा 43, 44, 46 और 56 से इस प्रकार लिया गया है :–

43. न्यायालयों को विचारण के दौरान सक्रिय भूमिका निभानी चाहिए । उनसे यह प्रत्याशा नहीं की जाती है कि वे साक्षियों द्वारा जो कुछ कहा जा रहा है उसे एक मशीन की तरह रिकार्ड करते रहें । दंड प्रक्रिया संहिता की धारा 311 और भारतीय साक्ष्य अधिनियम की धारा 165 के अधीन न्यायालयों के पीठासीन अधिकारियों को बृहत और व्यापक शक्तियां प्रदत्त की गई हैं ताकि वे साक्ष्य संग्रह प्रक्रिया में सक्रिय रूप से कार्य कर सकें और संपूर्ण आवश्यक सामग्री अभिलेख पर आ सके । उन्हें न्याय के हित के लिए कार्यवाहियों पर इस रीति में कड़ी नजर रखनी चाहिए कि जो कुछ सुसंगत नहीं है वह अनावश्यक अभिलेख पर न आए । यदि अभियोजक किसी भी प्रकार से असावधान है, तब न्यायालय प्रभावपूर्ण रूप से कार्यवाहियों को नियंत्रित कर सकता है ताकि सच्चाई का मूलभूत परिणाम निकल सके । यह बात ऐसी स्थिति में और आवश्यक हो जाती है जब न्यायालयों को यह विश्वास हो जाए कि अभियोजन अभिक्रम या अभियोजक अपेक्षित रीति में कार्य नहीं कर रहा है । न्यायालय अभियोजन अभिक्रम की गंभीर कमियों या कर्तव्य के प्रति उदासीनता पर विचार करने के लिए न तो उत्सुकतापूर्वक और न ही बहाने से उपेक्षापूर्वक कार्यवाही कर सकता है । ऐसा अभियोजक जो

[1] (2004) 4 एस. सी. सी. 158.

निष्पक्षतापूर्वक कार्य नहीं करता है और प्रतिरक्षा पक्ष के काउंसेल के रूप में अधिक कार्य करता है, वह निष्पक्ष न्यायिक प्रक्रिया के प्रति उत्तरदायी होगा और न्यायालयों को ऐसे अभियोजन अभिक्रम के प्रभाव में नहीं आना चाहिए जो लापरवाही से काम लेता है या पूर्णतया अलगाव का व्यवहार करे ।

(बल देने के लिए रेखांकन किया गया है ।)

44. भारतीय साक्ष्य अधिनियम, 1872 की धारा 165 के अधीन न्यायालय की शक्ति दंड प्रक्रिया संहिता, 1973 की धारा 311 के अधीन प्राप्त शक्ति के पूरक के रूप में है । इस धारा के दो भाग हैं, अर्थात् – (i) किसी भी प्रक्रम पर साक्ष्य की परीक्षा करने का न्यायालय को विवेकाधिकार देना, और (ii) न्यायालय को आबद्ध करने वाला आज्ञापक भाग कि वह साक्षी की परीक्षा करे यदि उसे ऐसा प्रतीत होता हो कि न्यायालय के उचित विनिश्चय के लिए उसका साक्ष्य आवश्यक है । यद्यपि न्यायालय को व्यापक विवेकाधिकार प्राप्त है और यही व्यापकता समवर्ती सतर्कता की अपेक्षा भी करती है । **मोहनलाल** बनाम **भारत संघ** (उपरोक्त) वाले मामले में धारा 311 के विस्तार और व्याप्ति पर विचार करते हुए इस न्यायालय ने यह मत व्यक्त किया है कि ''कोई भी न्यायालय'', ''किसी भी प्रक्रम पर'' या ''कोई भी जांच या विचारण या अन्य कार्यवाहियां'', ''कोई भी व्यक्ति'' और ''कोई भी ऐसा व्यक्ति'' जैसे शब्दों से स्पष्ट रूप से यह अर्थ निकलता है कि इस धारा में यथासंभव व्यापक निबंधनों को व्यक्त किया गया है और इसमें किसी भी प्रकार से न्यायालय के विवेकाधिकार को सीमित नहीं किया गया है । तथापि, जैसाकि ऊपर उल्लेख किया गया है । इस व्यापकता के अधीन समवर्ती सतर्कता की उपेक्षा की गई है कि विवेकाधिकार संबंधी शक्तियों का अवलंब इस प्रकार लिया जाना चाहिए जिस प्रकार न्याय की अत्यावश्यकताएं पूरी की जाती हैं और विवेकाधिकार का प्रयोग सावधानीपूर्वक न्यायिक रूप से और दंड प्रक्रिया संहिता के उपबंधों के साथ संगत रूप से किया जाना चाहिए.....।

46. .....दंड प्रक्रिया संहिता की धारा 311 के अधीन किसी भी पक्षकार को यह अधिकार प्रदत्त नहीं किया गया है कि वह किसी

भी साक्षी की परीक्षा, प्रतिपरीक्षा और पुनः परीक्षा करे । यह ऐसी शक्ति है जो न्यायालय को दी गई है जिसका प्रयोग मात्र किसी पक्षकार या व्यक्ति के कहने पर नहीं किया जाता है । अपितु समाज और लोक हित के लिए प्रदत्त की गई इन शक्तियों और निहित विवेकाधिकार का उद्देश्य क्षतिपूर्ति न किए जा सकने या असीम नुकसान तथा अन्याय को रोकना है । न्यायालय मात्र सुसंगत तथ्यों को प्रकट करने के प्रयोजनार्थ या ऐसे तथ्यों का उचित सबूत प्राप्त करने के लिए इस धारा के अधीन उपलब्ध शक्ति का सहारा ले सकते हैं जो मामले में ठीक विनिश्चय किए जाने के लिए आवश्यक होते हैं ।

56. जैसाकि जैनीसन **बनाम** बेकर [इलाहाबाद ई. आर. पृष्ठ 1006 डी.] वाले मामले में सारवान् रूप से यह मत व्यक्त किया गया है :–

> "विधि इतनी भी शिथिल नहीं होनी चाहिए कि जो इसका उल्लंघन करें वे स्वतंत्र घूमें और जो इससे संरक्षा पाने की ईप्सा करें, वे निराश हो जाएं ।"
>
> न्यायालयों को यह सुनिश्चित करना होगा कि अभियुक्तों को दंड दिया गया है और यह भी सुनिश्चित करना होगा कि राज्य की शक्ति या प्राधिकार का प्रयोग अभियुक्तों या उनके लोगों को दंड से बचाने के लिए नहीं किया गया है । यह भी सुनिश्चित किया जाना चाहिए कि अभियुक्त ऐसी शक्तियों पर काबू न कर लें जो संविधान के अधीन केवल लोक और समाज के हित में हों । यदि अन्वेषण या अभियोजन में की गई कमी दृश्यमान है या सच्चाई या स्पष्ट कमियों को छुपाने के लिए डाले गए पर्दों को उठाने से वह दृष्टिगोचर हो सकती है तब न्यायालयों को विधि की परिसीमाओं के भीतर कठोरता से काम लेना चाहिए । अभियोजक और न्यायालय का यह कर्तव्य है कि संपूर्ण और महत्वपूर्ण तथ्य अभिलेख पर आने चाहिए ताकि अन्याय न हो सके । शकीला अब्दुल गफ्फार खान **बनाम** वसंत रघुनाथ धोबले वाला मामला देखिए ।
>
> (बल देने के लिए रेखांकन किया गया है ।)

24. इसके पश्चात् उक्त विनिश्चय का अनुसरण **सिद्धार्थ वशिष्ठ** उर्फ

मनु शर्मा (उपरोक्त) वाले मामले में भी किया गया है और इस विनिश्चय के पैरा 88 में एक वाक्य हमारे प्रयोजन हेतु सुसंगत है जो निम्न प्रकार है :–

> "188. दांडिक विचारण के दौरान न्यायालय द्वारा निभाई गई सक्रिय भूमिका का उल्लेख करना भी महत्वपूर्ण है । न्यायालय को सुनिश्चित करना चाहिए कि अभियोजक अपना कर्तव्य कुशलतापूर्वक और निष्पक्षता के साथ पूरा कर रहा है । इस न्यायालय ने जाहिरा हबीबुल्लाह एच. शेख **बनाम** गुजरात राज्य [(2004) 4 एस. सी. सी. 158] वाले मामले में विधि के अत्यंत महत्वपूर्ण उपबंधों का उल्लेख करते हुए दांडिक विचारण के दौरान न्यायालय के निर्भीक कार्य का वर्णन किया है .....। (बल देने के लिए रेखांकन किया गया है ।)"

25. **मोहनलाल श्यामजी सोनी** (उपरोक्त) वाले मामले में किए गए इस न्यायालय के पूर्ववर्ती विनिश्चय में दंड प्रक्रिया संहिता, 1898 की धारा 540 जो दंड प्रक्रिया संहिता, 1973 की धारा 311 के समवर्ती है, के तात्पर्य और आशय को इस न्यायालय ने सारगर्भित रूप से व्यक्त किया है और इन धाराओं का उपयोग दांडिक न्यायालय द्वारा कई बार यह सुनिश्चित करने के लिए किया जा रहा है कि सदैव न्याय की जीत हो । उक्त विनिश्चय का पैरा 16 हमारे प्रयोजन के लिए सुसंगत है जो निम्न प्रकार है :–

> 16. दंड प्रक्रिया संहिता, 1898 की धारा 540 के द्वितीय भाग के अंतर्गत यद्यपि न्यायालय को इस संबंध में बाध्य किया है कि वह किसी भी साक्षी को बुलाने और उसकी पुनः परीक्षा करने के लिए समन जारी करे, फिर भी मात्र विहित शर्त यह है कि जिस साक्ष्य को प्राप्त करने की ईप्सा की गई है वह मामले में न्यायोचित विनिश्चय दिए जाने के लिए आवश्यक हो । जब कार्यवाहियों के किसी भी पक्षकार द्वारा किसी साक्ष्य को प्राप्त करने की वांछनीयता दर्शाई जाती है तब न्यायालय को मामले के तथ्य और परिस्थितियों को ध्यान में रखते हुए इस उपबंध के अधीन अपनी या तो वैवेकिक या आज्ञापक शक्ति का प्रयोग करना चाहिए और यह भी ध्यान में रखना चाहिए कि इस उपबंध के अंतर्गत सबसे महत्वपूर्ण सिद्धांत, सुसंगत तथ्यों का सबूत प्रकट या प्राप्त करना है ताकि न्याय की अपेक्षाएं पूरी हो सकें । इस संबंध में हम अनुमोदन के साथ **ऐप्स** बनाम **एस.** वाले मामले को उद्धृत करना चाहेंगे जिसमें न्यायमूर्ति लम्पकिन ने निम्न मत व्यक्त किया है :–

"…. पीठासीन न्यायाधीश का यह अधिकार ही नहीं है अपितु कर्तव्य भी है कि वह साक्षी का ध्यान अपनी ओर करे भले ही ऐसा करना अभियोजन के पक्ष में हो या उसके विरुद्ध ; न्यायाधीश का उद्देश्य न तो निर्दोष को दंडित करना होना चाहिए और न ही दोषी को बचाना, किंतु उसका उद्देश्य विधि का उचित प्रयोग करना होता है .....काउंसेल केवल अपने मुवक्किल के हित के प्रति ही सोचता है किंतु न्यायाधीश को न्याय की जीत के बारे में विचार करना चाहिए । (बल देने के लिए रेखांकन किया गया है ।)"

26. **राजेन्द्र प्रसाद** (उपरोक्त) वाले मामले में उच्च न्यायालय ने अभियोजन पक्षकथन में कमी और अनवधानता से की गई भूल या त्रुटि के बीच अंतर को स्पष्ट किया है और इस प्रकार की गई भूल या त्रुटि को सही करने के लिए दांडिक न्यायालय दंड प्रक्रिया संहिता, 1973 की धारा 311 या साक्ष्य अधिनियम की धारा 165 के अधीन प्रदत्त शक्तियों का प्रयोग करते हुए पक्षकारों को अनुज्ञात कर सकता है । निर्णय के पैरा 7 में इस न्यायालय ने यह स्पष्ट किया है कि लोक अभियोजक द्वारा विचारण के दौरान की गई कमी और त्रुटि में क्या अंतर है । उक्त पैरे का सुसंगत भाग निम्न प्रकार है :–

"..... अभियोजन पक्षकथन में आई कमी को विचारण के दौरान सुसंगत सामग्री प्रस्तुत करने या साक्षियों से सुसंगत उत्तर निकलवाने में लोक अभियोजक द्वारा कारित की गई किसी भी असावधानता के समान नहीं समझना चाहिए.....।"

27. इस निर्णय के पैरा 8 में इस न्यायालय ने दांडिक न्यायालय के कर्तव्य के संबंध में यह भी मत व्यक्त किया है कि दांडिक न्यायालय को न्याय की जीत के लिए ऐसी त्रुटियों को ठीक करने के लिए अभियोजन पक्ष को अनुज्ञात कर देना चाहिए । उक्त निर्णय का पैरा 8 निम्न प्रकार है :–

"8. अभियोजन पक्षकथन में आई कमी को अंतर्निहित दोष या गुप्त कमी समझना चाहिए । इस कमी का लाभ आम तौर पर मामले के विचारण में अभियुक्तों को मिलना चाहिए किंतु अभियोजन के प्रबंधन में की गई असावधानता को असाध्य कमी नहीं माना जा सकता है । विचारण के दौरान किसी भी पक्षकार को त्रुटियों को दूर करने से नहीं रोका जा सकता है । यदि किसी भी अनवधानता के कारण समुचित साक्ष्य प्रस्तुत नहीं किया गया है या सुसंगत सामग्री

अभिलेख पर नहीं लाई गई तब न्यायालय को ऐसी भूलों को ठीक करने के लिए उदार भावना से काम लेना चाहिए । कुल मिलाकर दांडिक न्यायालय का कार्य दांडिक न्याय प्रशासन को चलाना है न कि पक्षकारों द्वारा की गई त्रुटियों को गिनना और न्यायालय का यह भी कार्य नहीं कि वह यह घोषित करे कि किस पक्षकार ने बेहतर तरीके से साक्ष्य प्रस्तुत किया है । (बल देने के लिए रेखांकन किया गया है ।)"

28. नवें प्रत्यर्थी की ओर से विद्वान् काउंसेल श्री राणा मुखर्जी ने **शिव कुमार** (उपरोक्त) वाले मामले में किए गए विनिश्चय का अवलंब लिया है । उक्त विनिश्चय का अवलंब लेते हुए विद्वान् काउंसेल ने यह प्रतिवाद किया है कि दंड प्रक्रिया संहिता, 1973 की धारा 301 का मात्र अवलंब लेकर अभियोजन करने के लिए शिकायतकर्ता को अनुज्ञात नहीं किया जा सकता है । जब हम विद्वान् काउंसेल द्वारा अवलंब लिए गए विनिश्चय को ध्यान में रखते हुए उनकी उक्त दलील पर विचार करते हैं, तो इस निष्कर्ष पर पहुंचते हैं कि उक्त विनिश्चय वर्तमान मामले को किसी भी प्रकार लागू नहीं होता है । यह ऐसा मामला है जिसमें शिकायतकर्ता ने अपना काउंसेल किया और वह मुख्य परीक्षा करानी चाहता था क्योंकि उसे अभियोजन साक्षी के रूप में परीक्षा के लिए बुलाया गया था । शिकायतकर्ता की उक्त प्रार्थना पर अभियुक्त द्वारा इस आधार पर आक्षेप किया गया कि सेशन विचारण के मामले में प्राइवेट काउंसेल अभियोजन का संचालन नहीं कर सकता है । यद्यपि विचारण न्यायालय ने शिकायतकर्ता की ओर से फाइल किया गया आवेदन मंजूर कर दिया और इस आवेदन का अनुमोदन लोक अभियोजक द्वारा भी किया गया था, अभियुक्त द्वारा फाइल किया गया पुनरीक्षण आवेदन मंजूर किया गया और विचारण न्यायालय का आदेश अपास्त कर दिया गया । उक्त स्थिति पर विचार करते हुए इस न्यायालय ने निर्णय के पैरा 14 में निम्न मत व्यक्त किया है :–

"14. ऐसे मामलों में लोक अभियोजक से मात्र संपूर्ण पर्यवेक्षण करने की प्रत्याशा नहीं की जाती है जिनमें निजी रूप से किए हुए काउंसेल को उसकी ओर से मुकदमा लड़ने के लिए अनुज्ञात किया जाए । ऐसी स्थिति में प्राइवेट काउंसेल का जो कार्य है उसकी तुलना न्यायालय में पेश होने वाले वरिष्ठ काउंसेल के कनिष्ठ

अधिवक्ता के रूप में की जा सकती है । प्राइवेट काउंसेल का कार्य लोक अभियोजक की ओर से पेश होना है, भले ही वह प्राइवेट पक्षकार द्वारा रखा गया हो । यदि लोक अभियोजक का कार्य यहां तक ही सीमित रखा जाता है कि वह केवल पर्यवेक्षण करेगा, तब विचारण प्राइवेट पक्षकार और अभियुक्त के बीच एक मुकाबला बन जाएगा जिससे संहिता की धारा 225 में उल्लिखित विधायी आदेश का उल्लंघन होगा ।"

29. जैसाकि हमने इसके पूर्व मत व्यक्त किया है उक्त मामले के तथ्य वर्तमान मामले के तथ्यों से पूर्णतया भिन्न हैं । उक्त निर्णय के पैरा 14 में जो कथन किया गया है अर्थात् शिकायतकर्ता अभियोजन मामले का संचालन अपने अधिवक्ता से कराना चाहता था यद्यपि इसके लिए लोक अभियोजक ने अनुज्ञा भी दे दी थी, से यह निष्कर्ष निकलता है कि न्यायालय ने यह पाया है कि ऐसी परिपाटी यद्यपि दंड प्रक्रिया संहिता की धारा 302 के अधीन मजिस्ट्रेट के समक्ष किसी सीमा तक अनुज्ञेय है, फिर भी दंड प्रक्रिया संहिता की धारा 301 का अवलंब लेते हुए सेशन न्यायालय द्वारा इसे अनुज्ञात नहीं किया जा सकता है । अतः हमें इस मामले के तथ्यों पर उक्त विनिश्चय के लागू किए जाने के लिए कोई भी गुंजाइश दिखाई नहीं देती है ।

30. राज्य के विद्वान् काउंसेल ने **उमर मुहम्मद और अन्य** बनाम **राजस्थान राज्य**[1] वाले मामले में विशेषकर उसके पैरा 38 का अवलंब लिया है और यह दलील दी है कि दंड प्रक्रिया संहिता, 1973 की धारा 311 का अवलंब लेकर भी न्यायालय अपीलार्थी की सहायता नहीं कर सकता । इस निर्णय के पैरा 38 का परिशीलन करने पर हमें ऐसी कोई गुंजाइश दिखाई नहीं देती है कि उक्त विनिश्चय में अधिकथित विनिश्चयाधार वर्तमान मामले को लागू हो सके । यह ऐसा मामला था जिसमें अभि. सा. 1 की परीक्षा जुलाई, 1994 में कराई गई थी और उसने उसके पश्चात् अर्थात् मई, 1995 में आवेदन फाइल किया था कि मामले में नामित पांच व्यक्ति निर्दोष हैं, अतः उन्हें दंड प्रक्रिया संहिता की धारा 311 का अवलंब लेते हुए उन्मोचित कर दिया जाए । उक्त आवेदन, विचारण न्यायालय द्वारा खारिज कर दिया गया तथा उच्च न्यायालय द्वारा पुनरीक्षण आवेदन भी खारिज कर दिया गया । इस न्यायालय ने इस निष्कर्ष पर

---

[1] (2007) 14 एस. सी. सी. 711.

पहुंच कर कि दंड प्रक्रिया संहिता की धारा 311 उक्त मामले में तथ्यों को बिल्कुल भी लागू नहीं होगी, यह अभिनिर्धारित किया कि अभि. सा. 1 को सिखाया पढ़ाया गया है क्योंकि यह आवेदन उसकी मुख्य परीक्षा कराए जाने के नौ मास के पश्चात् फाइल किया गया है, इसलिए यह बिल्कुल सद्भावपूर्ण नहीं है और इसीलिए आवेदन का खारिज किया जाना पूर्णतया न्यायोचित है ।

31. दंड प्रक्रिया संहिता, 1973 की धारा 301 और धारा 311 तथा भारतीय साक्ष्य अधिनियम, 1872 की धारा 165 के निर्वचन से संबंधित ऊपर निर्दिष्ट अपीलार्थी के विद्वान् काउंसेल द्वारा अवलंब लिए गए विभिन्न विनिश्चयों पर विचार करने के पश्चात् यह अभिनिर्धारित करना होगा कि उक्त विनिश्चयों में अधिकथित विभिन्न प्रतिपादनाओं से हमारे निष्कर्ष का समर्थन होता है कि दांडिक न्यायालय किसी अपराध का विचारण करते समय समाज और लोक हित में कार्य करते हैं । जैसाकि इस न्यायालय द्वारा **जाहिरा हबीबुल्लाह एच. शेख** (उपरोक्त) वाले मामले में अभिनिर्धारित किया गया है, दांडिक न्यायालय मूक दर्शक बना नहीं रह सकता । उसे सक्रिय रूप से भाग लेना चाहिए और दंड प्रक्रिया संहिता की धारा 311 तथा साक्ष्य अधिनियम, 1872 की धारा 165 के अधीन व्यापक शक्तियां निहित किए जाने के पश्चात् वर्तमान मामले जैसी स्थिति में जहां न्यायालय की जानकारी में यह लाया गया हो कि विचारण न्यायालय अर्थात् अभि. सा. 18 जो कानूनी प्राधिकारी है और जिसकी मौजूदगी में शनाख्त परेड कराई गई है और जो न्यायिक मजिस्ट्रेट भी है, के साक्ष्य में घोर विरोधाभास है, उसे लोक हित पर ध्यान देना चाहिए था और दंड प्रक्रिया संहिता की धारा 311 का अवलंब लेते हुए इस स्थिति में सुधार करना चाहिए था कि उक्त साक्षी को पुनः बुलाया जाता और लोक अभियोजक को यह निर्देश दिया जाता कि वह उक्त साक्षी से समुचित प्रश्न करे या न्यायालय ही साक्षी से प्रश्न करे और इस प्रकार स्पष्ट दिखाई देने वाली यह त्रुटि दूर हो सकती थी । यह दुर्भाग्य की बात है कि विचारण न्यायालय अभिलिखित किए गए साक्ष्य की प्रकृति की वास्तविकता को समझने में पूर्णतया असफल रहा है और अभि. सा. 18 के साक्ष्य के अभिलिखित किए जाने में हुई गंभीर कमी और त्रुटि पर ध्यान देने के संबंध में अपनी जिम्मेदारी को समझने में असफल रहा है । इस संदर्भ में यह कहना होगा कि अभियोजक भी अपना कर्तव्य पूरा करने में असफल रहे हैं जो वे साक्ष्य में आई कमी पर ध्यान न दे सके । हमारी सुविचारित राय में पुनरीक्षण आवेदन का निपटारा करते

समय उच्च न्यायालय ने यह भी औपचारिक कथन करके कि अपीलार्थी कभी भी लिखित तर्क फाइल कर सकता है, वर्तमान मामले जैसी स्थिति में सही दृष्टिकोण नहीं अपनाया है । परिणामतः, यह न्यायालय निचले न्यायालयों को यह समझाना चाहता है कि किसी मुकदमे में विशेषकर दांडिक कार्यवाहियों के मामले में विचार करते समय भावुकता के बजाए निष्पक्ष दृष्टिकोण अपनाना चाहिए ।

32. दंड प्रक्रिया संहिता, 1973 की धारा 311 की व्यापकता के संबंध में पक्षकारों के विद्वान् काउंसेलों द्वारा हमारे समक्ष प्रस्तुत किए गए ऊपर उल्लिखित विनिश्चयों पर विचार करने के पश्चात् हम **राजाराम यादव** बनाम **बिहार राज्य और एक अन्य**[1] वाले मामले में इस न्यायालय द्वारा हाल ही में किए गए विनिश्चय को निर्दिष्ट करना चाहेंगे जिसके पैरा 14 में विधि को निम्न प्रकार स्पष्ट किया गया है :–

> "14. दंड प्रक्रिया संहिता की धारा 311 का गहराई से परिशीलन करने पर यह दर्शित होता है कि जब किसी साक्षी को समन करने या पहले से परीक्षा किए गए किसी साक्षी को पुनः बुलाने या उसकी पुनः परीक्षा कराने का प्रश्न सामने आता है तब इस संबंध में न्यायालयों को व्यापक शक्तियां निहित की गई हैं । इस उपबंध का परिशीलन करने पर यह दर्शित होता है कि 'न्यायालय', 'जांच', 'विचारण', 'अन्य कार्यवाही', 'व्यक्ति को साक्षी के तौर पर', 'ऐसे व्यक्ति की जो हाजिर हो यद्यपि वह साक्षी के रूप में समन न किया गया हो' और 'व्यक्ति को जिसकी पहले परीक्षा की जा चुकी है' के साथ उपसर्ग के रूप में 'कोई/किसी' का प्रयोग किया गया है । उक्त अभिव्यक्ति अर्थात् 'कोई/किसी भी' का प्रयोग ऊपर उल्लिखित अनेक अभिव्यक्तियों के साथ करके परिणामस्वरूप यह कहा जा सकता है कि न्यायालय का समाधान मात्र ऐसे साक्ष्य के संबंध में होना चाहिए जो मामले में उचित विनिश्चय दिए जाने के लिए आवश्यक हों .....। अतः जहां तक दांडिक विचारण, साक्ष्य अधिनियम की धारा 138 के अधीन किसी भी व्यक्ति के कहने पर साक्ष्य की पुनः परीक्षा कराने के आदेश का संबंध है, दंड प्रक्रिया संहिता की धारा 311 और साक्ष्य अधिनियम की धारा 138 का परिशीलन आवश्यक रूप से उसमें अंतर्विष्ट उपचार विधि के अनुसरण

---

[1] ए. आई. आर. 2013 एस. सी. 3081.

में किया जाना चाहिए । अतः, आवश्यक यह है कि किसी मामले विशेष में दंड प्रक्रिया संहिता की धारा 311 का अवलंब लिए जाने और उसके लागू किए जाने का आदेश उक्त उपबंध को ध्यान में रखते हुए अर्थात् जैसाकि हमने पहले ही विचार किया है मामले में उचित कार्रवाई किए जाने के लिए न्यायालय द्वारा किया जा सकता है । उक्त उपबंध के अधीन निहित शक्ति के आधार पर कोई न्यायालय किसी जांच, विचारण या अन्य कार्यवाही के किसी प्रक्रम में किसी व्यक्ति को साक्षी के तौर पर समन कर सकता है या ऐसे किसी व्यक्ति की, जो हाजिर हो, यद्यपि वह साक्षी के रूप में समन न किया गया हो, परीक्षा कर सकता है । जहां तक ऐसे किसी व्यक्ति को पुनः बुलाने या उसकी पुनः परीक्षा कराए जाने का संबंध है, न्यायालय को आवश्यक रूप से इस बात पर विचार करना चाहिए और यह सुनिश्चित करना चाहिए कि किसी व्यक्ति को इस प्रकार पुनः बुलाने और उसकी पुनः परीक्षा कराए जाने से न्यायालय को यह प्रतीत होता हो कि मामले में उचित विनिश्चय किए जाने के लिए ऐसा करना अत्यावश्यक होगा । अतः, मूलभूत अपेक्षा उचित विनिश्चय किया जाना है और इस प्रयोजन के लिए यह सुनिश्चित किया जाना चाहिए कि उस व्यक्ति को पुनः बुलाना और उसकी पुनः परीक्षा कराना कितना आवश्यक है । इसे इस प्रकार भी कहा जा सकता है कि जब न्यायालय को इतनी व्यापक शक्ति निहित की गई है, तब यह कहने की आवश्यकता नहीं है कि ऐसी शक्ति का प्रयोग कड़ी सावधानी और सतर्कता के साथ न्यायिक रूप से किया जाना चाहिए ।"

33. ऊपर उल्लिखित अपने निष्कर्षों पर विचार करते हुए हमारा यह मत है कि विचारण न्यायालय तथा उच्च न्यायालय के आदेशों को कायम नहीं रखा जा सकता है और हम इन्हें अपास्त करते हुए विचारण न्यायालय को यह निदेश देते हैं कि वह अभि. सा. 18 को पुनः बुलाए और इस कथन के संबंध में अभियोजक से उक्त साक्षी की प्रतिपरीक्षा करने को कहे कि सिस्टर मीना बरुआ ने अभियुक्त संतोष पटनायक की शनाख्त करके बताया था कि उसी ने उस महिला को थप्पड़ मारा था, उसकी पहनी हुई साड़ी खींची थी, उसके स्तन दबाए थे और अन्य कोई स्पष्ट कृत्य नहीं किया था जिसके परस्परोन्मुख शनाख्त परेड किए जाने के समय पर प्रदर्श 8 में अभि. सा. 18 द्वारा अभिलिखित कथन की अंतर्वस्तु है और उस समय अपीलार्थी ने अभि. सा. 25 के रूप में प्रत्यर्थी सं. 9 की शनाख्त

की थी और इसी संबंध में अपीलार्थी की ओर से प्रार्थना भी की गई थी और अपीलार्थी को यह अवसर भी दिया गया था कि वह अपनी ओर से लिखित तर्क फाइल कर सकती है जैसाकि दंड प्रक्रिया संहिता की धारा 301 में उपबंध किया गया है । चूंकि आज की तारीख तक इस अपील के लंबित रहने के कारण विचारण की कार्यवाही रोक दी गई थी, इसलिए अब विचारण न्यायालय को उपरोक्त बातों का पालन करने का निदेश दिया जाता है और विधि के अनुसरण में समीचीन और अधिमान्य रूप से इस आदेश की प्रति की प्राप्ति की तारीख से तीन मास के भीतर कार्यवाहियां पूरी करने का भी निदेश दिया जाता है । उपरोक्त निबंधनों में अपील मंजूर की जाती है ।

अपील मंजूर की गई ।

अस./अनू.

[2014] 2 उम. नि. प. 40

मदन और एक अन्य

बनाम

महाराष्ट्र राज्य

6 दिसम्बर, 2013

मुख्य न्यायमूर्ति पी. सतशिवम् और न्यायमूर्ति रंजना प्रकाश देसाई और न्यायमूर्ति रंजन गोगोई

भूमि अर्जन अधिनियम, 1894 (1894 का 1) – धारा 18(2) और धारा 30 – निर्देश – परिसीमा अवधि – जहां कलक्टर द्वारा कोई प्रभाजन न किया गया हो वहां धारा 18 के अधीन परिसीमा अवधि – जबकि धारा 18 उन स्थितियों में लागू होती है जहां अधिनिर्णय में किए जाने वाले प्रभाजन के संबंध में किसी फायदाग्राही द्वारा आक्षेप किया जाता है किन्तु धारा 30 वहां लागू होती है जहां कलक्टर द्वारा परस्पर-विरोधी दावों के कारण कोई प्रभाजन नहीं किया जाता है इसलिए दावेदार धारा 30 के अधीन निर्देश में न्यायालय द्वारा प्रभाजन आदेश पारित किए जाने के

पश्चात् वर्धित प्रतिकर के लिए धारा 18 के अधीन निर्देश की विधिसम्मत रूप से ईप्सा कर सकते हैं और ऐसी दशा में धारा 18(2) के अधीन परिसीमा अवधि उस तारीख से आरंभ होगी जब प्रभाजन संबंधी ऐसा आदेश/अधिनिर्णय संबंधित दावेदार को या तो संसूचित कर दिया जाता है या उसे वास्तव में या आन्वयिक रूप से ज्ञात हो जाता है ।

कतिपय भूमि के अर्जन के लिए भूमि अर्जन अधिनियम, 1894 की धारा 4 के अधीन एक अधिसूचना तारीख 13 मार्च, 1980 को प्रकाशित की गई थी । किसी भी हितबद्ध व्यक्ति द्वारा अधिनियम की धारा 5क के अधीन कोई आक्षेप फाइल नहीं किया गया था । परिणामस्वरूप, अधिनियम की धारा 6 के अधीन अधिसूचना तारीख 18 अप्रैल, 1982 को प्रकाशित की गई थी और तारीख 16 अगस्त, 1985 को एक अधिनिर्णय पारित किया गया था जिसके द्वारा प्रतिकर मंजूर किया गया था । चूंकि भूमि के स्वामित्व के संबंध में विवाद था इसलिए कलक्टर (विशेष भूमि अर्जन अधिकारी) ने मामला अधिनियम की धारा 30 के अधीन प्रतिकर के प्रभाजन के लिए सिविल न्यायालय को निर्देशित कर दिया । कलक्टर द्वारा धारा 30 के अधीन किए गए निर्देश का तारीख 4 सितम्बर, 1991 को विद्वान् द्वितीय अपर जिला न्यायाधीश द्वारा यह अभिनिर्धारित करते हुए निपटारा किया गया था कि प्रस्तुत अपीलार्थी (दावेदार सं. 1 और 2) 20 आरे अर्जित भूमि की बाबत प्रतिकर के लिए हकदार हैं और शेष पक्षकार (दावेदार सं. 3 से 7) अर्जित भूमि के शेष भाग की बाबत प्रतिकर के लिए हकदार हैं । ऐसा प्रतीत होता है कि अधिनियम की धारा 30 के अधीन किए गए निर्देश में तारीख 4 सितम्बर, 1991 का आदेश पारित किए जाने के पश्चात् अपीलार्थियों ने तारीख 5 सितम्बर, 1991 को प्रतिकर प्राप्त किया । यद्यपि निश्चित तारीख उपलब्ध नहीं है, तथापि, तारीख 4 सितम्बर, 1991 के आदेश की तारीख से छह सप्ताह के भीतर अपीलार्थियों ने अधिनिर्णीत प्रतिकर में वृद्धि करने के लिए अधिनियम की धारा 18 के अधीन निर्देश करने की ईप्सा की । उपरोक्त निर्देश द्वितीय अपर जिला न्यायाधीश द्वारा तारीख 29 अक्तूबर, 1993 के आदेश द्वारा विनिश्चित किया गया था जिसके द्वारा प्रतिकर की रकम में अधिनियम के भिन्न-भिन्न उपबंधों के अधीन देय तोषण, ब्याज आदि सहित 2,10,000/- रुपए की अतिरिक्त राशि की वृद्धि की गई थी । उपरोक्त अधिनिर्णय से व्यथित होकर महाराष्ट्र राज्य ने उच्च न्यायालय के समक्ष एक अपील फाइल की जिसके द्वारा अधिनिर्णीत प्रतिकर में की गई वृद्धि को प्रश्नगत किया गया और यह

दलील भी दी गई कि किया गया निर्देश अधिनियम की धारा 18(2) के उपबंधों के कारण परिसीमा से वर्जित है । उच्च न्यायालय ने आक्षेपित आदेश द्वारा केवल परिसीमा के मुद्दे पर अपील का निपटारा कर दिया और उसे समय-वर्जित ठहराया था । तदनुसार, राज्य द्वारा फाइल की गई अपील मंजूर कर ली गई थी और द्वितीय अपर जिला न्यायाधीश द्वारा पारित अधिनिर्णय उलट दिया गया था । उच्च न्यायालय के इसी निर्णय के विरुद्ध उच्चतम न्यायालय में विशेष इजाजत लेकर प्रस्तुत अपील फाइल की गई है । उच्चतम न्यायालय द्वारा अपील मंजूर करते हुए,

अभिनिर्धारित – जबकि भूमि अर्जन अधिनियम, 1894 की धारा 18 ऐसी स्थितियों में लागू होती है जहां अधिनिर्णय में किए गए प्रभाजन के संबंध में उसके किसी फायदाग्राही द्वारा आक्षेप किया जाता है, किन्तु धारा 30 तब लागू होती है जब कलक्टर द्वारा परस्पर-विरोधी दावों के कारण किसी प्रकार का कोई प्रभाजन नहीं किया जाता है । ऐसी स्थिति में कलक्टर के लिए उपलब्ध विकल्पों में से एक विकल्प यह है कि वह अधिनियम की धारा 30 के अधीन न्यायालय को प्रभाजन के प्रश्न के बारे में निर्देश करे । दूसरा विकल्प यह है कि पक्षकारों को वाद फाइल करने के उपचार पर छोड़ देना । दोनों स्थितियों में, अधिनिर्णय के अधीन प्रतिकर प्राप्त करने का अधिकार किसी दावेदार के पक्ष में प्रभाजन करने के पश्चात् ही निश्चित होगा । इसके पश्चात् ही उस दावेदार द्वारा, जिसके पक्ष में प्रभाजन का आदेश, यथास्थिति, या तो धारा 30 के अधीन निर्देश में न्यायालय द्वारा या सिविल वाद में पारित किया जाता है, विधिसम्मत रूप से वर्धित प्रतिकर के लिए धारा 18 के अधीन निर्देश की ईप्सा की जा सकती है । (पैरा 12)

प्रस्तुत मामले में वर्धित दर पर प्रतिकर की ईप्सा करने वाले निर्देश में पारित आदेश से अन्य बातों के साथ-साथ यह स्पष्ट होता है कि भू-स्वामियों (अपीलार्थी ऐसे भू-स्वामियों का एक समूह हैं) के बीच अर्जित भूमि में उनके अपने-अपने अंशों की बाबत विवाद था, जिसके कारण कलक्टर द्वारा प्रतिकर का कोई प्रभाजन नहीं किया गया था जिसने अधिनियम की धारा 30 के अधीन न्यायालय को निर्देश किया था । इसके अलावा, उपर्युक्त आदेश में यह अभिलिखित किया गया है कि अपीलार्थियों को तब तक अधिनिर्णय की कोई जानकारी नहीं थी जब धारा 30 के अधीन किए गए निर्देश में तारीख 4 सितम्बर, 1991 का आदेश पारित किया गया था । अधिनियम की धारा 18(2) के परन्तुक (ख) में प्रयुक्त

"अधिनिर्णय की तारीख" अभिव्यक्ति का अर्थ वह तारीख समझी जानी चाहिए जब पक्षकार को या तो अधिनिर्णय संसूचित किया जाता है या उसे वास्तव में या आन्वयिक रूप से इसकी जानकारी होती है । इसके अलावा, धारा 18 के परन्तुक में प्रयुक्त "कलक्टर के अधिनिर्णय की तारीख से" शब्दों का अर्थान्वयन शाब्दिक रूप में या यांत्रिक रीति से करना अयुक्तियुक्त होगा । प्रस्तुत मामले में निर्देश न्यायालय द्वारा तारीख 29 अक्तूबर, 1993 के अपने आदेश में यह निष्कर्ष लेखबद्ध किया गया है कि "याचियों को तारीख 5 सितम्बर, 1991 को प्रतिकर का संदाय किए जाने की तारीख तक अधिनिर्णय पारित हो जाने के बारे कोई जानकारी नहीं थी क्योंकि उन्हें धारा 30 के अधीन निर्देश के तारीख 4 सितम्बर, 1991 के विनिश्चय के पश्चात् प्रतिकर प्राप्त करने के लिए हकदार ठहराया गया था ।" अपीलार्थियों को तारीख 4 सितम्बर, 1991 को प्रथम बार इस बात का पता चला कि वे प्रतिकर के हकदार थे और उसकी मात्रा क्या थी । इस संबंध में कोई विवाद नहीं है कि धारा 18 के अधीन निर्देश उक्त तारीख से छह सप्ताह के भीतर किया गया था । उपर्युक्त तथ्यों के आधार पर उच्च न्यायालय द्वारा यह अभिनिर्धारित करने के लिए अपनाए गए दृष्टिकोण से सहमत होना कठिन है कि धारा 18 के अधीन किया गया निर्देश परिसीमा से वर्जित था । (पैरा 10 और 11)

निर्दिष्ट निर्णय

		पैरा
[1966]	ए. आई. आर. 1966 एस. सी. 237 : **डा. जी. एच. ग्रांट** बनाम **बिहार राज्य** ;	7,13
[1961]	ए. आई. आर. 1961 एस. सी. 1500 : **राजा हरीश चन्द्र राज सिंह** बनाम **उप भूमि अर्जन अधिकारी और एक अन्य** ।	7,10

अपीली (सिविल) अधिकारिता : 2013 की सिविल अपील सं. 10863.

1994 की प्रथम अपील सं. 641 में मुम्बई उच्च न्यायालय की औरंगाबाद न्यायपीठ के तारीख 9 सितम्बर, 2008 के निर्णय और आदेश के विरुद्ध अपील ।

अपीलार्थियों की ओर से सर्वश्री सुधांशु एस. चौधरी और महेश देशमुख

प्रत्यर्थी की ओर से श्री अनिरुद्ध पी. मायी और (सुश्री) आशा गोपालन नायर

न्यायालय का निर्णय न्यायमूर्ति रंजन गोगोई ने दिया ।

न्या. गोगोई – इजाजत दी जाती है ।

2. यह अपील मुम्बई उच्च न्यायालय की औरंगाबाद न्यायपीठ द्वारा पारित तारीख 9 सितम्बर, 2008 के उस निर्णय और आदेश के विरुद्ध फाइल की गई है जिसमें भूमि अर्जन अधिनियम, 1894 (जिसे इसमें इसके पश्चात् "अधिनियम" कहा गया है) की धारा 18 के अधीन कलक्टर द्वारा किया गया निर्देश परिसीमा से वर्जित ठहराया गया है । तदनुसार, उच्च न्यायालय ने निर्देश न्यायालय द्वारा पारित तारीख 29 अक्तूबर, 1993 के उस अधिनिर्णय को उलट दिया जिसके द्वारा अपीलार्थियों को वर्धित प्रतिकर मंजूर किया गया था । इससे व्यथित होकर यह अपील फाइल की गई है ।

3. इस मामले के संक्षिप्त तथ्यों को उपयोगी रूप से निम्न प्रकार वर्णित किया जा सकता है :–

बीड जिले के माजलगांव तालुका में फुले पिंपलगांव में स्थित सर्वेक्षण सं. 49 के अंतर्गत आने वाले कुल 8 हैक्टेयर 40 आरे क्षेत्रफल के अर्जन की कार्यवाही अधिनियम की धारा 4 के अधीन अधिसूचना द्वारा आरंभ की गई थी जो कि भारत के राजपत्र में तारीख 13 मार्च, 1980 को प्रकाशित की गई थी । किसी भी हितबद्ध व्यक्ति द्वारा अधिनियम की धारा 5क के अधीन कोई आक्षेप फाइल नहीं किया गया था । परिणामस्वरूप, अधिनियम की धारा 6 के अधीन अधिसूचना तारीख 18 अप्रैल, 1982 को प्रकाशित की गई थी और तारीख 16 अगस्त, 1985 को एक अधिनिर्णय पारित किया गया था जिसके द्वारा अधिनिर्णय की श्रेणी I , II और III के रूप में वर्गीकृत भूमि के विभिन्न प्रवर्गों के लिए क्रमशः 50/- रुपए, 65/- रुपए और 75/- रुपए प्रति आरे की दर पर प्रतिकर मंजूर किया गया था । चूंकि भूमि के स्वामित्व के संबंध में विवाद था इसलिए कलक्टर (विशेष भूमि अर्जन अधिकारी) ने मामला अधिनियम की धारा 30 के अधीन प्रतिकर के प्रभाजन के लिए सिविल न्यायालय को निर्देशित कर दिया । कलक्टर द्वारा धारा 30 के अधीन किए गए निर्देश का, जो कि 1985 के भूमि अर्जन निर्देश सं. 4 के रूप में रजिस्ट्रीकृत और संख्यांकित किया गया था, तारीख 4 सितम्बर,

1991 को बीड के विद्वान् द्वितीय अपर जिला न्यायाधीश द्वारा यह अभिनिर्धारित करते हुए निपटारा किया गया था कि प्रस्तुत अपीलार्थी (दावेदार सं. 1 और 2) 20 आरे अर्जित भूमि की बाबत प्रतिकर के लिए हकदार हैं और शेष पक्षकार (दावेदार सं. 3 से 7) अर्जित भूमि के शेष भाग की बाबत प्रतिकर के लिए हकदार हैं ।

4. ऐसा प्रतीत होता है कि अधिनियम की धारा 30 के अधीन किए गए निर्देश में तारीख 4 सितम्बर, 1991 का आदेश पारित किए जाने के पश्चात् अपीलार्थियों ने तारीख 5 सितम्बर, 1991 को प्रतिकर प्राप्त किया । यद्यपि निश्चित तारीख उपलब्ध नहीं है, तथापि, तारीख 4 सितम्बर, 1991 के आदेश की तारीख से छह सप्ताह के भीतर अपीलार्थियों ने अधिनिर्णीत प्रतिकर में वृद्धि करने के लिए अधिनियम की धारा 18 के अधीन निर्देश करने की ईप्सा की । उपरोक्त निर्देश, जिसे 1992 के भूमि अर्जन निर्देश सं. 75 के रूप में संख्यांकित किया गया था, बीड के द्वितीय अपर जिला न्यायाधीश द्वारा तारीख 29 अक्तूबर, 1993 के आदेश द्वारा विनिश्चित किया गया था जिसके द्वारा प्रतिकर की रकम में अधिनियम के भिन्न-भिन्न उपबंधों के अधीन देय तोषण, ब्याज आदि सहित 2,10,000/- रुपए की अतिरिक्त राशि की वृद्धि की गई थी ।

5. तारीख 29 अक्तूबर, 1993 के उपरोक्त अधिनिर्णय से व्यथित होकर महाराष्ट्र राज्य ने उच्च न्यायालय के समक्ष एक अपील फाइल की जिसके द्वारा अधिनिर्णीत प्रतिकर में की गई वृद्धि को प्रश्नगत किया गया और यह दलील भी दी गई कि किया गया निर्देश अधिनियम की धारा 18(2) के उपबंधों के कारण परिसीमा से वर्जित है । उच्च न्यायालय ने तारीख 9 सितम्बर, 2008 के आक्षेपित आदेश द्वारा केवल परिसीमा के मुद्दे पर अपील का निपटारा कर दिया और उसे समय-वर्जित ठहराया था । तदनुसार, राज्य द्वारा फाइल की गई अपील मंजूर कर ली गई थी और 1992 के भूमि अर्जन निर्देश सं. 75 में द्वितीय अपर जिला न्यायाधीश द्वारा पारित अधिनिर्णय उलट दिया गया था ।

6. हमने अपीलार्थियों की ओर से विद्वान् काउन्सेल श्री सुधांशु एस. चौधरी और प्रत्यर्थी-राज्य की ओर से उपस्थित होने वाले विद्वान् काउन्सेल श्री अनिरुद्ध पी. मायी की सुनवाई की है ।

7. अपीलार्थियों की ओर से विद्वान् काउन्सेल ने बलपूर्वक यह दलील दी है कि अभिलेख पर रखी गई सामग्री से यह प्रकट होता है कि

अपीलार्थियों ने उस जांच में भाग नहीं लिया था जिसके परिणामस्वरूप भूमि अर्जन कलक्टर द्वारा तारीख 16 अगस्त, 1985 का अधिनिर्णय पारित किया गया था । अपीलार्थियों को अधिनियम की धारा 12(2) के अधीन अधिनिर्णय की कोई सूचना भी नहीं दी गई थी । यह इंगित किया गया है कि अपीलार्थी अधिनिर्णय के अधीन प्रतिकर प्राप्त करने के हकदार केवल 4 सितम्बर, 1991 को, अर्थात्, अधिनियम की धारा 30 के अधीन किए गए निर्देश में न्यायालय के आदेश की तारीख को हुए थे । अपीलार्थियों द्वारा यह प्रतिकर तारीख 5 सितम्बर, 1991 को प्राप्त किया गया था । इसके पश्चात्, अधिनियम की धारा 18 के अधीन निर्देश के लिए आवेदन अधिनियम की धारा 30 के अधीन पारित आदेश की तारीख से 6 सप्ताह की अवधि के भीतर किया गया था । विद्वान् काउन्सेल ने **राजा हरीश चन्द्र राज सिंह** बनाम **उप भूमि अर्जन अधिकारी और एक अन्य**[1] वाले मामले में इस न्यायालय के विनिश्चय का अवलंब लेते हुए इस बात पर जोर दिया है कि प्रस्तुत मामले में धारा 18(2) में निर्दिष्ट अधिनिर्णय की जानकारी की तारीख 4 सितम्बर, 1991, अर्थात्, अधिनियम की धारा 30 के अधीन आदेश की तारीख समझी जानी है । यदि ऐसा है तो, अपीलार्थियों के विद्वान् काउन्सेल के अनुसार, उच्च न्यायालय ने निर्देश को अधिनियम की धारा 18 के अधीन परिसीमा से वर्जित अभिनिर्धारित करके स्पष्टतः त्रुटि की है । अधिनियम की धारा 18 और धारा 30 के सही तात्पर्य पर जोर देने के लिए **डा. जी. एच. ग्रांट** बनाम **बिहार राज्य**[2] वाले मामले में इस न्यायालय के एक अन्य विनिश्चय का अवलंब लिया गया है ।

8. राज्य की ओर से विद्वान् काउन्सेल ने अपीलार्थियों की ओर से दी गई दलीलों का खंडन करने के लिए यह दलील दी है कि चूंकि अपीलार्थियों ने भूमि के स्वामी होने का दावा किया है इसलिए वे हर समय भूमि अर्जन की उस कार्यवाही से भिज्ञ थे जिसके परिणामस्वरूप कलक्टर द्वारा तारीख 16 अगस्त, 1985 का अधिनिर्णय पारित किया गया था । अतः, राज्य की ओर से विद्वान् काउन्सेल के अनुसार, अपीलार्थियों को धारा 18(2) द्वारा विहित समय के भीतर धारा 18 के अधीन निर्देश की ईप्सा करनी चाहिए थी । इस संबंध में राज्य के विद्वान् काउन्सेल ने यह इंगित किया है कि अधिनियम की धारा 18 के अधीन भी व्यथित पक्षकार

---

[1] ए. आई. आर. 1961 एस. सी. 1500.

[2] ए. आई. आर. 1966 एस. सी. 237.

अधिनिर्णय के प्रभाजन के प्रश्न पर भी निर्देश की ईप्सा करने के लिए स्वतंत्र है । प्रस्तुत मामले में अधिनिर्णय भूमि अर्जन कलक्टर द्वारा तारीख 16 अगस्त, 1985 को पारित किए जाने के कारण धारा 18 के अधीन वर्ष 1991 में वर्धित प्रतिकर के लिए किया गया निर्देश असाधारण विलंब से किया गया था और इस संबंध में उच्च न्यायालय का विनिश्चय पूर्णतः न्यायोचित है ।

9. तात्कालिक निर्देश के लिए अधिनियम की धारा 18 और 30 के उपबंधों को इसमें इसके नीचे उपवर्णित करना सुविधाजनक होगा :–

"18. **न्यायालय को निर्देश** – (1) कोई भी हितबद्ध व्यक्ति, जिसने अधिनिर्णय प्रतिगृहीत नहीं किया है, चाहे उस व्यक्ति का आक्षेप भूमि के माप के, चाहे प्रतिकर की रकम के, चाहे उन व्यक्तियों के, जिनको वह संदेय है, चाहे हितबद्ध व्यक्तियों में प्रतिकर के प्रभाजन के बारे में हो, कलक्टर से किए गए लिखित आवेदन द्वारा इस बात की अपेक्षा कर सकेगा कि उस मामले को कलक्टर न्यायालय के अवधारण के लिए निर्देशित कर दे ।

(2) आवेदन उन आधारों का कथन करेगा जिन पर कि अधिनिर्णय पर आक्षेप किया गया है :

परन्तु ऐसा हर आवेदन, –

(क) उस दशा में, जिसमें कि वह व्यक्ति, जो ऐसा आवेदन करता है, कलक्टर के सामने उस समय जब कलक्टर ने अधिनिर्णय दिया था, उपस्थित था या उसका प्रतिनिधित्व किया गया था, कलक्टर के अधिनिर्णय की तारीख से छह सप्ताह के भीतर,

(ख) अन्य दशाओं में धारा 12 की उपधारा (2) के अधीन कलक्टर से सूचना की प्राप्ति के छह सप्ताह और कलक्टर के अधिनिर्णय की तारीख से छह मास में से जिस कालावधि का पहले अवसान हो उसके भीतर,

किया जाएगा ।"

"30. **प्रभाजन संबंधी विवाद** – जबकि प्रतिकर की रकम धारा 11 के अधीन स्थिर की जा चुकी है तब यदि उसके या उसके किसी

भाग के प्रभाजन के संबंध में यह उन व्यक्तियों के संबंध में, जिनको वह या उसका कोई भाग संदेय है, कोई विवाद उद्‌भूत होता है तो कलक्टर ऐसे विवाद को न्यायालय के विनिश्चय के लिए निर्देशित कर सकेगा ।"

10. 1992 के भूमि अर्जन निर्देश सं. 75 में पारित तारीख 29 अक्तूबर, 1993 के आदेश से अन्य बातों के साथ-साथ यह स्पष्ट होता है कि भू-स्वामियों (अपीलार्थी ऐसे भू-स्वामियों का एक समूह हैं) के बीच अर्जित भूमि में उनके अपने-अपने अंशों की बाबत विवाद था जिसके कारण कलक्टर द्वारा प्रतिकर का कोई प्रभाजन नहीं किया गया था जिसने अधिनियम की धारा 30 के अधीन न्यायालय को निर्देश किया था । इसके अलावा, तारीख 29 अक्तूबर, 1993 के आदेश में यह अभिलिखित किया गया है कि अपीलार्थियों को तब तक अधिनिर्णय की कोई जानकारी नहीं थी जब धारा 30 के अधीन किए गए निर्देश में तारीख 4 सितम्बर, 1991 का आदेश पारित किया गया था । **राजा हरीश चन्द्र राज सिंह** (उपर्युक्त) वाले मामले में इस न्यायालय ने यह अभिनिर्धारित किया है कि अधिनियम की धारा 18(2) के परन्तुक (ख) में प्रयुक्त "अधिनिर्णय की तारीख" अभिव्यक्ति का अर्थ वह तारीख समझी जानी चाहिए जब पक्षकार को या तो अधिनिर्णय संसूचित किया जाता है या उसे वास्तव में या आन्वयिक रूप से इसकी जानकारी होती है । इसके अलावा, इस न्यायालय द्वारा यह अभिनिर्धारित किया गया था कि धारा 18 के परन्तुक में प्रयुक्त "कलक्टर के अधिनिर्णय की तारीख से" शब्दों का अर्थान्वयन शाब्दिक रूप में या यांत्रिक रीति से करना अयुक्तियुक्त होगा । प्रस्तुत मामले में, यह पहले ही अवेक्षा की जा चुकी है कि निर्देश न्यायालय द्वारा तारीख 29 अक्तूबर, 1993 के अपने आदेश में यह निष्कर्ष लेखबद्ध किया गया है कि "याचियों को तारीख 5 सितम्बर, 1991 को प्रतिकर का संदाय किए जाने की तारीख तक अधिनिर्णय पारित हो जाने के बारे कोई जानकारी नहीं थी क्योंकि उन्हें धारा 30 के अधीन निर्देश के तारीख 4 सितम्बर, 1991 के विनिश्चय के पश्चात् प्रतिकर प्राप्त करने के लिए हकदार ठहराया गया था ।"

11. उपरोक्त से यह प्रकट होता है कि अपीलार्थियों को तारीख 4 सितम्बर, 1991 को (अधिनियम की धारा 30 के अधीन आदेश की तारीख) प्रथम बार इस बात का पता चला कि वे प्रतिकर के हकदार थे और उसकी मात्रा क्या थी । इस संबंध में कोई विवाद नहीं है कि धारा 18 के अधीन निर्देश उक्त तारीख, अर्थात्, 4 सितम्बर, 1991 से छह सप्ताह के भीतर

किया गया था । उपर्युक्त तथ्यों के आधार पर उच्च न्यायालय द्वारा यह अभिनिर्धारित करने के लिए अपनाए गए दृष्टिकोण से सहमत होना कठिन है कि धारा 18 के अधीन किया गया निर्देश परिसीमा से वर्जित था ।

12. ऊपर उद्धृत अधिनियम की धारा 18 और धारा 30 के उपबंधों पर सरसरी नज़र डालने से यह संकेत मिलता है कि इन उपबंधों के बीच कुछ अतिव्याप्ति है चूंकि दोनों उपबंधों में प्रतिकर के प्रभाजन के मुद्दे को न्यायालय को निर्देशित करना अनुध्यात है । किन्तु इनकी सूक्ष्म संवीक्षा करने पर यह उपदर्शित होगा कि अधिनियम की दोनों धाराएं भिन्न-भिन्न परिस्थितियों में प्रवृत्त होती हैं । जबकि धारा 18 ऐसी स्थितियों में लागू होती है जहां अधिनिर्णय में किए गए प्रभाजन के संबंध में उसके किसी फायदाग्राही द्वारा आक्षेप किया जाता है, किन्तु धारा 30 तब लागू होती है जब कलक्टर द्वारा परस्पर-विरोधी दावों के कारण किसी प्रकार का कोई प्रभाजन नहीं किया जाता है । ऐसी स्थिति में कलक्टर के लिए उपलब्ध विकल्पों में से एक विकल्प यह है कि वह अधिनियम की धारा 30 के अधीन न्यायालय को प्रभाजन के प्रश्न के बारे में निर्देश करे । दूसरा विकल्प यह है कि पक्षकारों को वाद फाइल करने के उपचार पर छोड़ देना । दोनों स्थितियों में, अधिनिर्णय के अधीन प्रतिकर प्राप्त करने का अधिकार किसी दावेदार के पक्ष में प्रभाजन करने के पश्चात् ही निश्चित होगा । इसके पश्चात् ही उस दावेदार द्वारा, जिसके पक्ष में प्रभाजन का आदेश, यथास्थिति, या तो धारा 30 के अधीन निर्देश में न्यायालय द्वारा या सिविल वाद में पारित किया जाता है, विधिसम्मत रूप से वर्धित प्रतिकर के लिए धारा 18 के अधीन निर्देश की ईप्सा की जा सकती है ।

13. **डा. जी. एच. ग्रांट** बनाम **बिहार राज्य** (उपर्युक्त) वाले मामले में इस न्यायालय के विनिश्चय से भी उपर्युक्त निष्कर्ष को समर्थन मिलेगा । उपरोक्त मामले में, कलक्टर द्वारा तारीख 25 मार्च, 1952 को अधिनिर्णय किया गया था । तारीख 5 मई, 1952 को स्वामी ने उसे संदेय प्रतिकर में वृद्धि करने के लिए न्यायालय को निर्देश करने के लिए धारा 18 के अधीन आवेदन किया । जबकि मामला इस स्थिति में था, बिहार भूमि सुधार अधिनियम, 1950 (1950 का 30) की धारा 3 के अधीन जारी की गई तारीख 22 मई, 1952 की अधिसूचना द्वारा स्वामी की संपदा राज्य में निहित हो गई । भूमि का कब्जा अधिनियम की धारा 16 के अधीन तारीख 21 अगस्त, 1952 को ले लिया गया था । तारीख 15 अक्तूबर, 1952 को राज्य की ओर से धारा 30 के अधीन एक निर्देश की ईप्सा की गई थी ।

इस न्यायालय ने उन भिन्न-भिन्न स्थितियों की अवेक्षा करने के पश्चात्, जिनमें अधिनियम की धारा 18 और धारा 30 के उपबंध लागू होंगे, बिहार राज्य द्वारा अधिनियम की धारा 30 के अधीन ईप्सित निर्देश को इस आधार पर विधि की दृष्टि से सक्षम ठहराने की कार्यवाही की कि कलक्टर द्वारा अधिनिर्णय पारित किए जाने के पश्चात् भूमि, बिहार भूमि सुधार अधिनियम, 1950 की धारा 3 के अधीन तारीख 22 मई, 1952 की अधिसूचना के आधार पर राज्य में निहित हो गई थी । **डा. जी. एच. ग्रांट** बनाम **बिहार राज्य** (उपर्युक्त) वाले निर्णय में अधिकथित सिद्धांत को तर्कसम्मत रूप से लागू करने पर राज्य अधिनियम की धारा 18 के अधीन वर्धित प्रतिकर का दावा करने के लिए विधितः तब हकदार हो गया होता जैसे ही ऐसा प्रतिकर प्राप्त करने के संबंध में उसकी हकदारी का विनिश्चय धारा 30 के अधीन उसके पक्ष में हो जाता । प्रस्तुत मामले में यही हुआ है ।

14. उपर्युक्त कारणों से हम यह अभिनिर्धारित करते हैं कि उच्च न्यायालय ने राज्य द्वारा फाइल की गई अपील मंजूर करके और बीड के द्वितीय अपर जिला न्यायाधीश द्वारा पारित तारीख 29 अक्तूबर, 1993 के आदेश को उलटकर गलती की थी । वर्तमान मामले में, चूंकि प्रतिकर का अधिनिर्णय कलक्टर द्वारा बहुत पहले वर्ष 1985 में किया गया था और उसमें अंतर्वलित रकम बहुत कम थी इसलिए हमने उन आधारों पर विचार किया है जिन पर विद्वान् निर्देश न्यायालय द्वारा तारीख 29 अक्तूबर, 1993 के अपने आदेश में प्रतिकर में वृद्धि की गई थी । इस प्रकार संवीक्षा करने पर हमें विद्वान् निर्देश न्यायालय द्वारा अपनाए गए मत में कोई त्रुटि प्रतीत नहीं होती है । इसलिए, मामले के विशिष्ट तथ्यों को देखते हुए, हम इस अपील को मंजूर करते हुए और उच्च न्यायालय द्वारा पारित तारीख 9 सितम्बर, 2008 के आदेश को अपास्त करते हुए, 1995 के भूमि अर्जन निर्देश सं. 75 में द्वितीय अपर जिला न्यायाधीश द्वारा पारित तारीख 29 अक्तूबर, 1993 के आदेश को प्रत्यावर्तित करना उचित समझते हैं ।

अपील मंजूर की गई ।

ग्रो.

डेफ एम्पलाइज़ वेल्फेयर एसोसिएशन और एक अन्य

बनाम

भारत संघ और अन्य

12 दिसम्बर, 2013

न्यायमूर्ति के. एस. राधाकृष्णन् और न्यायमूर्ति ए. आर. सीकरी

निःशक्त व्यक्ति (समान अवसर, अधिकार संरक्षण और पूर्ण भागीदारी) अधिनियम, 1995 – धारा 2(झ), 2(ट), 42 से 47 और 68 सपठित संविधान, 1950, अनुच्छेद 14, 16 और 32 – परमादेश की रिट – मूक-बधिर सरकारी कर्मचारियों के लिए परिवहन भत्ता – नेत्रहीन और विकलांग सरकारी कर्मचारियों के समान परिवहन भत्ता दिए जाने का दावा – स्वास्थ्य और परिवार कल्याण मंत्रालय तथा सड़क परिवहन और राजमार्ग मंत्रालय द्वारा नेत्रहीन कर्मचारियों के समान परिवहन भत्ता दिए जाने की सिफारिश – सरकार का यह आधार कि इस दावे की परीक्षा सातवां वेतन आयोग करेगा क्योंकि मूक-बधिर कर्मचारी नेत्रहीन और चलन निःशक्तता वाले कर्मचारियों के समान ह्रासित नहीं हैं, कायम रखे जाने योग्य नहीं है चूंकि धारा 2(झ) में उल्लिखित निःशक्तताओं वाले सभी व्यक्तियों का अपना एक वर्ग होता है और वे समान व्यवहार के हकदार हैं तथा उनके बीच और विभेद करना अनुच्छेद 14 का अतिक्रमणकारी होगा ।

यह रिट याचिका मूक और बधिर व्यक्तियों का प्रतिनिधित्व करने वाली दो एसोसिएशनों द्वारा फाइल की गई है जिसमें केन्द्रीय सरकार और राज्य सरकारों को यह निदेश देने वाली परमादेश की रिट जारी करने की ईप्सा की गई है कि वे श्रवण-शक्ति ह्रास से ग्रस्त अपने सरकारी कर्मचारियों को नेत्रहीन और विकलांग सरकारी कर्मचारियों को दिए जाने वाले परिवहन भत्ते के समान परिवहन भत्ता मंजूर करें और इसके अतिरिक्त पारिणामिक अनुतोष भी दें । भारत सरकार के वित्त मंत्रालय ने तारीख 31 अगस्त, 1978 के अपने कार्यालय ज्ञापन द्वारा केन्द्रीय सरकार के नियमित स्थापन के उन कर्मचारियों को, जो निःशक्त, अर्थात् नेत्रहीन और शरीर के निचले हिस्से की निःशक्तता के कारण विकलांग हैं, वाहन भत्ता अनुज्ञात किया था । भारत सरकार ने बाद में केन्द्रीय सिविल सेवा (पुनरीक्षित वेतन) नियम, 1986 पुरःस्थापित किए जाने के परिणामस्वरूप

वित्त मंत्रालय, व्यय विभाग के तारीख 16 अप्रैल, 1987 के कार्यालय ज्ञापन द्वारा निःशक्त व्यक्तियों, अर्थात्, नेत्रहीन और विकलांग व्यक्तियों को दिए जाने वाले वाहन भत्ते की दर को पुनरीक्षित करके प्रति मास अधिकतम 100/- रुपए के अधीन रहते हुए मूल वेतन का 5 प्रतिशत कर दिया । भारत सरकार के वित्त मंत्रालय ने पांचवे केन्द्रीय वेतन आयोग की सिफारिशों के अनुसार तारीख 3 अक्तूबर, 1997 के कार्यालय ज्ञापन द्वारा तारीख 31 अगस्त, 1978 के कार्यालय ज्ञापन द्वारा अनुदत्त वाहन भत्ते को उत्सादित कर दिया और इसके बजाय इसे परिवहन भत्ते द्वारा प्रतिस्थापित कर दिया जो कि नेत्रहीन और विकलांग कर्मचारियों को तारीख 3 अक्तूबर, 1997 के कार्यालय ज्ञापन के अधीन विहित सामान्य दरों से दुगुनी दर पर संदत्त किया जाना था । मूक और बधिर एसोसिएशन ने निःशक्त व्यक्ति (समान अवसर, अधिकार संरक्षण और पूर्ण भागीदारी) अधिनियम, 1995 (जिसे संक्षेप में "निःशक्तता अधिनियम" कहा गया है) के प्रवृत्त होने के पश्चात् उन्हें भी परिवहन भत्ते का फायदा देने के लिए अनेक अभ्यावेदन प्रस्तुत किए । उनके अभ्यावेदन पर स्वास्थ्य और परिवार कल्याण मंत्रालय, स्वास्थ्य विभाग द्वारा विचार किया गया और यह सिफारिश की गई कि जहां तक परिवहन भत्ते/सुविधा का संबंध है, मूक और बधिर व्यक्तियों की निःशक्तता की बराबरी नेत्रहीन व्यक्तियों की निःशक्तता से करना न्यायसंगत और उचित नहीं होगा । सड़क परिवहन और राजमार्ग मंत्रालय ने भी वित्त मंत्रालय को श्रवण-शक्ति विकलांग व्यक्तियों के लिए नेत्रहीन व्यक्तियों के समान वर्धित दरों पर परिवहन भत्ता मंजूर करने के लिए एक प्रस्थापना भेजी । सड़क परिवहन और राजमार्ग मंत्रालय ने केन्द्रीय सरकार के मूक और बधिर कर्मचारियों को वाहन भत्ता मंजूर करने के लिए मामले की परीक्षा करने हेतु तारीख 2 मार्च, 2006 को एक बैठक आयोजित की और उन्हें भी वाहन भत्ता मंजूर करने की सिफारिश की । इस अनुरोध पर वित्त मंत्रालय के व्यय विभाग द्वारा विचार किया गया था और वित्त मंत्रालय ने पहले अपनाए गए परस्पर-विरोधी आधार को स्पष्ट करने का निदेश दिया और उनसे अपना अंतिम दृष्टिकोण अग्रेषित करने का अनुरोध किया । स्वास्थ्य और परिवार कल्याण मंत्रालय ने इस मुद्दे की पुनः परीक्षा की और श्रवण-शक्ति विकलांग व्यक्तियों को नेत्रहीन व्यक्तियों के समान वर्धित दरों पर परिवहन भत्ता देने की सिफारिश की । तथापि, वित्त मंत्रालय ने तारीख 30 नवम्बर, 2006 के अपने कार्यालय ज्ञापन द्वारा स्वास्थ्य और परिवार कल्याण मंत्रालय को यह मुद्दा छठे केन्द्रीय वेतन आयोग को उसकी सिफारिश प्रदान करने के लिए निर्देशित करने की सलाह दी । तथापि,

स्वास्थ्य और परिवार कल्याण मंत्रालय ने यह मामला छठे केन्द्रीय वेतन आयोग के समक्ष नहीं रखा । छठे केन्द्रीय वेतन आयोग ने यह सिफारिश की कि शारीरिक रूप से निःशक्त कर्मचारी सामान्य से दुगुनी दर पर भत्ता प्राप्त करते रहेंगे । इसके बाद, वित्त मंत्रालय ने तारीख 29 अगस्त, 2008 का कार्यालय ज्ञापन जारी किया जिसमें यह अनुबंध किया गया कि नेत्रहीन या विकलांग कर्मचारी वित्त मंत्रालय के तारीख 3 अक्तूबर, 1997 के कार्यालय ज्ञापन द्वारा सामान्य से दुगुनी दर पर भत्ता प्राप्त करते रहेंगे । सामाजिक न्याय और अधिकारिता मंत्रालय ने पुनः फरवरी, 2013 में वित्त मंत्रालय से श्रवण-शक्ति विकलांग कर्मचारियों को दुगुना परिवहन भत्ता देने के मुद्दे पर विचार करने का अनुरोध किया । स्वास्थ्य और परिवार कल्याण मंत्रालय तारीख 22 मार्च, 2013 का कार्यालय ज्ञापन द्वारा श्रवण-शक्ति से ह्रासित कर्मचारियों को दुगुनी दर पर परिवहन भत्ता देने की सिफारिश की । वित्त मंत्रालय ने स्वास्थ्य और परिवार कल्याण मंत्रालय के अनुरोध पर फिर से विचार किया और कोई कार्रवाई नहीं की थी किन्तु स्वास्थ्य और परिवार कल्याण मंत्रालय से स्पष्टीकरण मांगा था । स्वास्थ्य और परिवार कल्याण मंत्रालय ने पुनः उसी प्रकार सामान्य दर से दुगुनी दर पर परिवहन भत्ता देने की सिफारिश की जिस प्रकार चलन निःशक्तता और दृष्टि निःशक्तता (अंधता) से ग्रस्त कर्मचारियों को दिया जा रहा है । स्वास्थ्य और परिवार कल्याण मंत्रालय द्वारा की गई सिफारिश के बावजूद, वित्त मंत्रालय अपने पूर्ववर्ती आधार पर अड़ा रहा और यह इंगित किया कि चूंकि सरकार ने सातवें केन्द्रीय वेतन आयोग का गठन पहले ही कर दिया है इसलिए यह उपयुक्त होगा कि उक्त वेतन आयोग मूक और बधिर व्यक्तियों द्वारा किए गए दावे की परीक्षा करेगा और इसलिए यह रिट याचिका फाइल की गई है । उच्चतम न्यायालय द्वारा रिट याचिका मंजूर करते हुए,

अभिनिर्धारित – जब कोई व्यक्ति धारा 2(झ) में उल्लिखित निःशक्तताओं में से किसी निःशक्तता से ग्रस्त है और चिकित्सा प्राधिकारी द्वारा इस प्रकार प्रमाणित किया जाता है तब वह सरकार द्वारा उपबंधित सभी स्कीमों और फायदों का हकदार होता है और विविध या भिन्न-भिन्न प्रकार की निःशक्तताओं वाले व्यक्तियों के बीच और कोई विभेद नहीं किया जा सकता है । सकारात्मक कार्रवाई के मामले में अंधता की निःशक्तता वाले किसी व्यक्ति और श्रवण-शक्ति का ह्रास की निःशक्तता वाले किसी व्यक्ति के बीच और विभेद नहीं हो सकता है । निःशक्तता अधिनियम के अधीन ऐसा विभेद परिकल्पित नहीं है । धारा 2(झ) में उल्लिखित सभी प्रवर्गों के व्यक्तियों की अपनी-अपनी असुविधाएं हैं जो उनके लिए विशिष्ट हैं ।

दृष्टिक ह्रासित व्यक्ति की बराबरी श्रवण-शक्ति ह्रासित व्यक्ति से और श्रवण-शक्ति ह्रासित व्यक्ति की बराबरी दृष्टिक ह्रासित व्यक्ति से नहीं की जा सकती है । इन दोनों की निःशक्तता भिन्न-भिन्न प्रकार और ढंग की है । किसी नेत्रहीन व्यक्ति के लिए, दृश्यता कमजोर और कभी-कभी शून्य प्रतिशत हो सकती है किन्तु वह सुनने और यह समझने में समर्थ होगा कि उसके आसपास क्या हो रहा है । इसी प्रकार, मूक-बधिर व्यक्ति देख सकेगा किन्तु इसके बारे में कुछ बोलने और सुनने में समर्थ नहीं होगा कि उसके आसपास क्या हो रहा है । उन प्रवर्गों के व्यक्तियों की निःशक्तता की प्रकृति एक जैसी नहीं हो सकती है किन्तु उन निःशक्तताओं के संबंध में, जिनसे वे ग्रस्त हैं चिन्ता और अनुकंपा दिखाई जानी चाहिए । (पैरा 18)

वित्त मंत्रालय द्वारा स्वास्थ्य और परिवार कल्याण मंत्रालय द्वारा की गई सिफारिशों के बावजूद श्रवण-शक्ति ह्रास से ग्रस्त सरकारी कर्मचारियों को परिवहन भत्ता न दिए जाने के लिए अभिव्यक्त मत कायम नहीं रखा जा सकता है । बधिर और श्रवण-शक्ति ह्रासित कर्मचारियों द्वारा की जाने वाली यात्रा अधिनियम की धारा 2(झ) में निर्दिष्ट अन्य निःशक्तताओं वाले व्यक्तियों की तुलना में एकसमान दुश्कर और बोझिल होती है । श्रवण-शक्ति से ह्रासित व्यक्ति बस कंडक्टरों, आटो और टैक्सी चालकों से बातचीत नहीं कर सकते जैसे कि सामान्य व्यक्ति कर सकता है । उन्हें निरपवाद रूप से किसी अजनबी की सहायता लेनी पड़ती है । गंतव्य-स्थान पर पहुंचने के लिए सामान्य व्यक्तियों की तुलना में पर्याप्त रूप से अधिक समय और प्रयास की आवश्यकता पड़ती है । श्रवण-शक्ति से ह्रासित व्यक्ति को कभी-कभी सामान्य व्यक्तियों की तुलना में आने-जाने पर अधिक धनराशि खर्च करनी पड़ जाती है । कभी-कभी उसे अजनबियों या अन्य यात्रियों की सहायता लेने की आवश्यकता पड़ती है । (पैरा 19)

इस मत का समर्थन नहीं किया जा सकता है कि अधिनियम की धारा 2(क) के अधीन श्रवण-शक्ति से ह्रासित व्यक्तियों की बाबत परिकल्पित निःशक्तता किसी नेत्रहीन व्यक्ति की निःशक्तता से कम है । अधिनियम की धारा 2(झ) में उल्लिखित निःशक्तताओं वाले व्यक्तियों के बीच कभी भी न तो ऐसा कोई विभेद नहीं किया गया है और न ही इसकी कल्पना की गई है क्योंकि उनका अपना एक अलग वर्ग है । उनके बीच और विभेद करना स्पष्ट रूप से भारत के संविधान के अनुच्छेद 14 का अतिक्रमणकारी है । (पैरा 20)

वित्त मंत्रालय द्वारा जिस विभेद के संबंध में दलील देने की कोशिश की गई है उसका उस उद्देश्य से कोई तर्कसंगत संबंध नहीं है जो

निःशक्तता अधिनियम द्वारा पूरा किया जाना ईप्सित है, जिसमें "निःशक्त व्यक्तियों" को समान अवसर, संरक्षण और अधिकार देना परिकल्पित है । सभी "निःशक्त व्यक्तियों" को सरकारी कृत्यों में भाग लेते समय विधि के समक्ष समता और विधि का समान संरक्षण प्रदान किया जाना चाहिए । सरकारी कर्मचारियों को परिवहन भत्ता दिया जाता है क्योंकि हो सकता है कि कई सरकारी कर्मचारी अपने कार्यस्थल के आसपास निवास न करते हों । कभी-कभी उन्हें आने-जाने के लिए लंबी दूरी तय करनी पड़ती है । निवास-स्थान से कार्यस्थल के बीच आने-जाने में लगने वाले समय में अत्यधिक वृद्धि हुई है जिससे कार्यालयों में कार्य परिवेश पर प्रतिकूल प्रभाव पड़ता है क्योंकि कर्मचारी अपनी काफी शक्ति आने-जाने में व्यय करते हैं और निःशक्त व्यक्तियों की दशा में यह स्थिति और भी गंभीर है । (पैरा 21)

मूक-बधिर व्यक्तियों की एक अंतर्भूत गरिमा होती है और उनकी गरिमा का सम्मान करना और उसकी संरक्षा करना राज्य की बाध्यता है । किसी मूक-बधिर व्यक्ति की मानवीय गरिमा को तब ठेस पहुंचती है जब उसे इस आधार पर अलग-थलग या अनदेखा कर दिया जाता है या कम आंका जाता है कि वह जिस निःशक्तता से ग्रस्त है वह दृष्टिक ह्रासित व्यक्ति की निःशक्तता से कम है जो कि स्पष्ट रूप से भारत के संविधान के अनुच्छेद 21 का अतिक्रमण है । "निःशक्त व्यक्तियों" के बीच किसी तर्कसंगत आधार के बिना निःशक्तताओं की तुलना करना स्पष्ट रूप से भारत के संविधान के अनुच्छेद 14 का अतिक्रमणकारी है । स्वास्थ्य और परिवार कल्याण मंत्रालय द्वारा श्रवण-शक्ति के ह्रास से ग्रस्त सरकारी कर्मचारियों को नेत्रहीन और विकलांग सरकारी कर्मचारियों के समान परिवहन भत्ता देने के लिए की गई सिफारिश पूर्णतः विधिक है और वह संविधान के अनुच्छेद 14 और अनुच्छेद 21 के अनुकूल है । (पैरा 23)

आरंभिक (सिविल) अधिकारिता : 2001 की रिट याचिका (सिविल) सं. 107.

भारत के संविधान के अनुच्छेद 32 के अधीन रिट याचिका ।

अपीलार्थी की ओर से	श्री कमल कुमार पांडे (अभिष्ठ कुमार की ओर से)
प्रत्यर्थियों की ओर से	सर्वश्री मोहन पराशरन, महासालिसिटर, फारुख रशीद, डी. एल. चिदानन्द, रैतिन राय, बी. के. प्रसाद और अरविन्द कुमार शर्मा

न्यायालय का निर्णय न्यायमूर्ति के. एस. राधाकृष्णन् ने दिया ।

न्या. राधाकृष्णन् – यह रिट याचिका मूक और बधिर व्यक्तियों का प्रतिनिधित्व करने वाली दो एसोसिएशनों द्वारा फाइल की गई है जिसमें केन्द्रीय सरकार और राज्य सरकारों को यह निदेश देने वाली परमादेश की रिट जारी करने की ईप्सा की गई है कि वे श्रवण-शक्ति ह्रास से ग्रस्त अपने सरकारी कर्मचारियों को नेत्रहीन और विकलांग सरकारी कर्मचारियों को दिए जाने वाले परिवहन भत्ते के समान परिवहन भत्ता मंजूर करें और इसके अतिरिक्त पारिणामिक अनुतोष भी दें ।

2. भारत सरकार के वित्त मंत्रालय ने तारीख 31 अगस्त, 1978 के अपने कार्यालय ज्ञापन द्वारा केन्द्रीय सरकार के नियमित स्थापन के उन कर्मचारियों को, जो निःशक्त, अर्थात् नेत्रहीन और शरीर के निचले हिस्से की निःशक्तता के कारण विकलांग हैं, वाहन भत्ता अनुज्ञात किया था । भारत सरकार ने बाद में केन्द्रीय सिविल सेवा (पुनरीक्षित वेतन) नियम, 1986 पुरःस्थापित किए जाने के परिणामस्वरूप वित्त मंत्रालय, व्यय विभाग के तारीख 16 अप्रैल, 1987 के कार्यालय ज्ञापन द्वारा निःशक्त व्यक्तियों, अर्थात्, नेत्रहीन और विकलांग व्यक्तियों को दिए जाने वाले वाहन भत्ते की दर को पुनरीक्षित करके प्रति मास अधिकतम 100/- रुपए के अधीन रहते हुए मूल वेतन का 5 प्रतिशत कर दिया ।

3. भारत सरकार के वित्त मंत्रालय ने पांचवे केन्द्रीय वेतन आयोग की सिफारिशों के अनुसार तारीख 3 अक्तूबर, 1997 के कार्यालय ज्ञापन द्वारा तारीख 31 अगस्त, 1978 के कार्यालय ज्ञापन द्वारा अनुदत्त वाहन भत्ते को उत्सादित कर दिया और इसके बजाय इसे परिवहन भत्ते द्वारा प्रतिस्थापित कर दिया जो कि नेत्रहीन और विकलांग कर्मचारियों को तारीख 3 अक्तूबर, 1997 के कार्यालय ज्ञापन के अधीन विहित सामान्य दरों से दुगुनी दर पर संदत्त किया जाना था ।

4. मूक और बधिर एसोसिएशन ने निःशक्त व्यक्ति (समान अवसर, अधिकार संरक्षण और पूर्ण भागीदारी) अधिनियम, 1995 (जिसे संक्षेप में "निःशक्तता अधिनियम" कहा गया है) के प्रवृत्त होने के पश्चात् उन्हें भी परिवहन भत्ते का फायदा देने के लिए अनेक अभ्यावेदन प्रस्तुत किए । उनके अभ्यावेदन पर स्वास्थ्य और परिवार कल्याण मंत्रालय, स्वास्थ्य विभाग द्वारा विचार किया गया था और उन्होंने तारीख 12 मई, 2003 का कार्यालय ज्ञापन जारी किया जो कि निम्नलिखित रूप में है : –

कार्यालय ज्ञापन

विषय : केन्द्रीय सरकार के नेत्रहीन और विकलांग कर्मचारियों को वाहन भत्ता अनुदत्त करने के संबंध में ।

अधोहस्ताक्षरी को वित्त मंत्रालय के ऊपर उल्लिखित विषय पर तारीख 17 जुलाई, 2002 के यू. ओ. सं. 21(1)/97-ई.II (बी) के प्रति निर्देश करने और यह कहने का निदेश हुआ है कि इस मामले की परीक्षा इस विषय के विशेषज्ञों और सामाजिक न्याय और सशक्तीकरण मंत्रालय से परामर्श करके की गई थी । जबकि तकनीकी विशेषज्ञों का विश्वास यह है कि मूक और बधिरों को अपने निवास-स्थान से अपने कर्तव्य-स्थल पर आने-जाने के लिए आमतौर पर शारीरिक सहायता की आवश्यकता नहीं होती है, किन्तु सामाजिक न्याय और अधिकारिता मंत्रालय ने केन्द्रीय सरकार के मूक और बधिर कर्मचारियों को वाहन भत्ता अनुदत्त करने का जोरदार समर्थन किया है ।

अंततः, यह सिफारिश की जाती है कि जहां तक परिवहन भत्ते/सुविधा का संबंध है, मूक और बधिर व्यक्तियों की निःशक्तता की बराबरी नेत्रहीन व्यक्तियों की निःशक्तता से करना न्यायसंगत और उचित नहीं होगा ।

ह./-
उप-सचिव भारत सरकार

5. सड़क परिवहन और राजमार्ग मंत्रालय ने भी वित्त मंत्रालय को श्रवण-शक्ति विकलांग व्यक्तियों के लिए नेत्रहीन व्यक्तियों के समान वर्धित दरों पर परिवहन भत्ता मंजूर करने के लिए एक प्रस्थापना भेजी । सड़क परिवहन और राजमार्ग मंत्रालय ने केन्द्रीय सरकार के मूक और बधिर कर्मचारियों को वाहन भत्ता मंजूर करने के लिए मामले की परीक्षा करने हेतु तारीख 2 मार्च, 2006 को एक बैठक आयोजित की और उन्हें भी वाहन भत्ता मंजूर करने की सिफारिश की । इस अनुरोध पर वित्त मंत्रालय के व्यय विभाग द्वारा विचार किया गया था और तारीख 26 जून, 2006 के कार्यालय ज्ञापन द्वारा वित्त मंत्रालय ने पहले अपनाए गए परस्पर-विरोधी आधार को स्पष्ट करने का निदेश दिया और उनसे अपना अंतिम दृष्टिकोण अग्रेषित करने का अनुरोध किया । स्वास्थ्य और परिवार कल्याण मंत्रालय ने इस मुद्दे की पुनः परीक्षा की और श्रवण-शक्ति विकलांग व्यक्तियों को

नेत्रहीन व्यक्तियों के समान वर्धित दरों पर परिवहन भत्ता देने की सिफारिश की । तारीख 26 जून, 2006 का कार्यालय ज्ञापन निम्नलिखित रूप में है :–

कार्यालय ज्ञापन

विषय - श्रवण-शक्ति विकलांग व्यक्तियों को नेत्रहीन व्यक्तियों के समान वर्धित दर पर परिवहन भत्ते की मंजूरी ।

अधोहस्ताक्षरी को ऊपर उल्लिखित विषय पर वित्त मंत्रालय के तारीख 13 जून, 2006 के कार्यालय ज्ञापन सं. 21(1)/97-ई.II (बी) के प्रति निर्देश करने और यह कहने का निदेश हुआ है कि मंत्रालय ने इस क्षेत्र में विशेषज्ञों की एक समिति द्वारा इस मामले की पुनः परीक्षा कराई है, जिसने श्रवण-शक्ति ह्रासित कार्मिकों को निम्नलिखित कारणों से वर्धित दर पर विशेष परिवहन भत्ता देने की सिफारिश की है –

(1) प्रकृति द्वारा पहुंची निःशक्तता दशाएं सभी निःशक्त व्यक्तियों के लिए एक जैसी हैं । समाज और लोगों को इसे समझना चाहिए और उनकी सहायता करनी चाहिए ।

(2) किसी भी परिवहन प्रणाली के लिए श्रव्य आधारित संकेत प्रणाली श्रवण-शक्ति ह्रासित व्यक्तियों के लिए सदैव भिन्न-भिन्न होगी । उन्हें विशेष सहायता की आवश्यकता होती है ।

अतः, स्वास्थ्य और परिवार कल्याण मंत्रालय श्रवण-शक्ति विकलांग व्यक्तियों के लिए वर्धित दर पर विशेष परिवहन भत्ता दिए जाने की सिफारिश करता है ।

यह प्रस्थापना सचिव (स्वास्थ्य और परिवार कल्याण) द्वारा देखी और अनुमोदित की गई है ।

ह./-
अवर सचिव, भारत सरकार

6. तथापि, वित्त मंत्रालय ने तारीख 30 नवम्बर, 2006 के अपने कार्यालय ज्ञापन द्वारा स्वास्थ्य और परिवार कल्याण मंत्रालय को यह मुद्दा छठे केन्द्रीय वेतन आयोग को उसकी सिफारिश प्रदान करने के लिए निर्देशित करने की सलाह दी । तथापि, स्वास्थ्य और परिवार कल्याण मंत्रालय ने यह मामला छठे केन्द्रीय वेतन आयोग के समक्ष नहीं रखा । छठे

केन्द्रीय वेतन आयोग ने यह सिफारिश की कि शारीरिक रूप से निःशक्त कर्मचारी सामान्य से दुगुनी दर पर भत्ता प्राप्त करते रहेंगे । इसके बाद, वित्त मंत्रालय ने तारीख 29 अगस्त, 2008 का कार्यालय ज्ञापन जारी किया जिसमें यह अनुबंध किया गया कि नेत्रहीन या विकलांग कर्मचारी वित्त मंत्रालय के तारीख 3 अक्तूबर, 1997 के कार्यालय ज्ञापन द्वारा सामान्य से दुगुनी दर पर भत्ता प्राप्त करते रहेंगे । सामाजिक न्याय और अधिकारिता मंत्रालय ने पुनः फरवरी, 2013 में वित्त मंत्रालय से श्रवण-शक्ति विकलांग कर्मचारियों को दुगुना परिवहन भत्ता देने के मुद्दे पर विचार करने का अनुरोध किया । स्वास्थ्य और परिवार कल्याण मंत्रालय द्वारा जारी किया गया तारीख 22 मार्च, 2013 का कार्यालय ज्ञापन निम्नलिखित रूप में है :–

"कार्यालय ज्ञापन

विषय : केन्द्रीय सरकार के विभिन्न कार्यालयों में केन्द्रीय सरकार के बधिर कर्मचारियों को दुगुनी दर पर परिवहन भत्ता मंजूर करने के अनुरोध के संबंध में ।

अधोहस्ताक्षरी को यह कहने का निदेश हुआ है कि श्री एस. मुरुगन, महासचिव, अखिल भारतीय केन्द्रीय सरकार बधिर कर्मचारी संघ, सिकन्दराबाद (ए.ओ.) से केन्द्रीय सरकार के कार्यालयों/ कार्यशालाओं के अधीन कार्य करने वाले बधिर कर्मचारियों को दुगुनी दर पर परिवहन भत्ते के पुनरीक्षण के संबंध में एक अभ्यावेदन प्राप्त हुआ है (प्रति संलग्न) ।

2. इस मामले पर इस मंत्रालय में विचार किया गया था और यह सिफारिश की गई थी कि चूंकि निःशक्त व्यक्ति (समान अवसर, अधिकार संरक्षण और पूर्ण भागीदारी) अधिनियम, 1995 में 'श्रवण शक्ति का ह्रास' को निःशक्तता के रूप में सूचीबद्ध किया गया है, इसलिए केन्द्रीय सरकार के कार्यालयों के अधीन कार्य करने वाले उन सभी पदधारियों को भी, जो बधिर/बेहतर कर्ण में 60 डेसीबल या उससे अधिक की श्रवण हानि वाले श्रवण-शक्ति ह्रास से ग्रस्त हैं, उसी प्रकार सामान्य दर से दुगुनी दर पर परिवहन भत्ते के लिए पात्र बनाया जा सकता है जिस प्रकार चलन निःशक्तता और दृष्टि निःशक्तता (अंधता) से ग्रस्त कर्मचारियों को दिया गया है ।

3. तदनुसार, यह अनुरोध किया जाता है कि श्रवण-शक्ति से ह्रासित कर्मचारियों को दुगुनी दर पर परिवहन भत्ता देने के लिए उन्हें

निःशक्त व्यक्ति (समान अवसर, अधिकार संरक्षण और पूर्ण भागीदारी) अधिनियम, 1995 के पैरा 2(i) के उपबंधों के अंतर्गत शामिल करने के लिए विनिर्दिष्ट अनुदेश जारी किए जाएं ।

यह सचिव (स्वास्थ्य और परिवार कल्याण) के अनुमोदन से जारी किया जाता है ।

ह./ -
अवर सचिव, भारत सरकार"

7. वित्त मंत्रालय ने स्वास्थ्य और परिवार कल्याण मंत्रालय के अनुरोध पर तारीख 2 जुलाई, 2013 को फिर से विचार किया और कोई कार्रवाई नहीं की थी किन्तु स्वास्थ्य और परिवार कल्याण मंत्रालय से स्पष्टीकरण मांगा था । स्वास्थ्य और परिवार कल्याण मंत्रालय ने इसके बारे में तारीख 27 सितम्बर, 2013 का एक कार्यालय ज्ञापन जारी किया और पुनः निम्नलिखित आधारों पर उसी प्रकार सामान्य दर से दुगुनी दर पर परिवहन भत्ता देने की सिफारिश की जिस प्रकार चलन निःशक्तता और दृष्टि निःशक्तता (अंधता) से ग्रस्त कर्मचारियों को दिया जा रहा है : –

(i) निःशक्त व्यक्ति (समान अवसर, अधिकार संरक्षण और पूर्ण भागीदारी) अधिनियम, 1995 में श्रवण-शक्ति ह्रास (संवाद संबंधी रेंज की आवृत्ति में बेहतर कर्ण में 60 डेसीबल या अधिक की हानि) को निःशक्तता के रूप में सूचीबद्ध किया गया है ।

(ii) बधिर/श्रवण-शक्ति से ह्रासित कर्मचारियों के लिए परिवहन जोखिम उतना है जितना कि अन्य निःशक्तता वाले व्यक्तियों के लिए है ।

(iii) श्रवण-शक्ति से ह्रासित व्यक्ति बस कंडक्टरों, आटो और टैक्सी चालकों से सामान्य व्यक्तियों की तरह बातचीत नहीं कर सकते ।

(iv) सामान्य व्यक्तियों की तुलना में गंतव्य-स्थान पर पहुंचने में अधिक समय और प्रयास की आवश्यकता होती है ।

(v) श्रवण-शक्ति से ह्रासित व्यक्तियों को परिवहन में सामान्य व्यक्तियों की तुलना में अधिक धन खर्च करना पड़ता है ।

8. हम यह अवेक्षा करते हैं कि स्वास्थ्य और परिवार कल्याण मंत्रालय द्वारा की गई सिफारिश के बावजूद, वित्त मंत्रालय, व्यय विभाग अपने पूर्ववर्ती आधार पर अड़ा रहा और यह इंगित किया कि चूंकि सरकार ने

सातवें केन्द्रीय वेतन आयोग का गठन पहले ही कर दिया है इसलिए यह उपयुक्त होगा कि उक्त वेतन आयोग मूक और बधिर व्यक्तियों द्वारा किए गए दावे की परीक्षा करेगा और इसलिए यह रिट याचिका फाइल की गई है ।

9. यह अवेक्षणीय है कि मूक और बधिर व्यक्तियों द्वारा किए गए अभिवाकों का इन सभी वर्षों में कोई असर नहीं पड़ा जबकि उनके दावे पर मानवीय आधार पर तटस्थ रीति में और विशेषकर निःशक्तता अधिनियम के प्रकाश में और विभिन्न अंतरराष्ट्रीय अभिसमयों के आधार पर, जिसमें भारत एक भागीदार है, विचार किया जाना है । एशिया और प्रशांत महासागर आर्थिक और सामाजिक आयोग (ई. एस. सी. ए. पी.) ने बीजिंग में दिसम्बर, 1992 में हुई बैठक में वर्ष 1993-2000 की अवधि को एशियाई और प्रशांत महासागर निःशक्त व्यक्ति दशाब्दी के रूप में घोषित किया था । इससे पूर्व भी, यह उल्लेखनीय है कि भारत सरकार के वित्त मंत्रालय ने तारीख 31 अगस्त, 1978 के अपने आदेश द्वारा केन्द्रीय सरकार के नियमित स्थापन के उन कर्मचारियों को जो निःशक्त, अर्थात् नेत्रहीन और विकलांग थे, वाहन भत्ता देने की मंजूरी प्रदान की थी । भारत ऊपर उल्लिखित अभिसमय में हस्ताक्षरकर्ता है । उस अभिसमय में एक हस्ताक्षरकर्ता होने के कारण भारत के लिए अभिसमय को प्रभावी करने के लिए उपयुक्त विधान अधिनियमित करना बाध्यकर था । तदनुसार, निःशक्तता अधिनियम अधिनियमित किया गया था ।

10. इस संबंध में, हम यू. एन. कन्वेंशन आन प्रोटेक्शन एंड प्रोमोशन आफ द राइट्स एंड डिग्निटी आफ पर्सन्स विद डिसेबिलिटीज़, 2008 के प्रति निर्देश कर सकते हैं । भारत उस अभिसमय में भी हस्ताक्षरकर्ता है । अभिसमय का अनुच्छेद निम्नलिखित रूप में है :–

> "'निःशक्तता के आधार पर विभेद' से निःशक्तता के आधार पर भेद, अपवर्जन या निर्बन्धन अभिप्रेत है जिसका प्रयोजन या प्रभाव राजनैतिक, आर्थिक, सामाजिक, सांस्कृतिक, सिविल या किसी अन्य क्षेत्र में समस्त मानव अधिकारों और मूलभूत स्वातंत्र्यों की अन्य व्यक्तियों के साथ समान आधार पर मान्यता, उनके उपभोग या प्रयोग का ह्रास करना या उन्हें अकृत करना है । इसमें सभी प्रकार के विभेद आते हैं जिनमें युक्तियुक्त वास-सुविधा से इनकार करना भी शामिल है ;
>
> 'युक्तियुक्त वास-सुविधा' से ऐसे आवश्यक और उपयुक्त

उपांतरण और समायोजन अभिप्रेत हैं जो असंगत या असम्यक् भार अधिरोपित नहीं करते हैं, जो किसी विशिष्ट मामले में निःशक्त व्यक्तियों को समस्त मानव अधिकारों और मूलभूत स्वातंत्र्यों का अन्य व्यक्तियों के साथ समान आधार पर उपभोग या प्रयोग सुनिश्चित करने के लिए आवश्यक हैं ।"

11. हमने पहले ही यह उपदर्शित कर दिया है कि भारत दोनों अभिसमयों, अर्थात्, बीजिंग अभिसमय, 1992 और संयुक्त राष्ट्र अभिसमय, 2008 में हस्ताक्षरकर्ता है । हमें निःशक्तता अधिनियम की व्याप्ति को ऊपर उल्लिखित अभिसमयों के प्रकाश में समझना होगा ।

12. निःशक्तता अधिनियम निःशक्त व्यक्तियों के बीच कोई अवरोध या विभेद सृजित नहीं करता है । निःशक्तता अधिनियम की धारा 2(झ) और (ठ) में "निःशक्तता" और "श्रवण शक्ति का ह्रास" अभिव्यक्तियों की परिभाषा दी गई है, जो कि निम्नलिखित रूप में हैं :–

"2(झ) 'निःशक्तता' से अभिप्रेत है, –

(i) अन्धता ;

(ii) कम दृष्टि ;

(iii) कुष्ठ रोग मुक्त ;

(iv) श्रवण शक्ति का ह्रास ;

(v) चलन निःशक्तता ;

(vi) मानसिक संदता ;

(vii) मानसिक रूग्णता ।

2(ठ) 'श्रवण शक्ति का ह्रास' से अभिप्रेत है संवाद संबंधी रेंज की आवृत्ति में बेहतर कर्ण में साठ डेसीबेल या अधिक की हानि ।"

धारा 2(ण) में "चलन निःशक्तता" की परिभाषा दी गई है जो कि निम्नलिखित रूप में है : –

"(ण) 'चलन निःशक्तता' से हड्डियों, जोड़ों या मांसपेशियों की कोई ऐसी निःशक्तता अभिप्रेत है, जिसमें अंगों की गति में पर्याप्त निर्बंधन या किसी प्रकार का प्रमस्तिष्क घात हो ।"

धारा 2(ख) में "अंधता" अभिव्यक्ति की परिभाषा निम्नलिखित रूप में दी

गई है :–

"(ख) 'अंधता' उस अवस्था को निर्दिष्ट करती है जहां कोई व्यक्ति निम्नलिखित अवस्था में से किसी से ग्रसित है, अर्थात् –

(i) दृष्टि का पूर्ण अभाव ; या

(ii) सुधारक लेंसों के साथ बेहतर नेत्र में दृष्टि की तीक्ष्णता जो 6/60 या 20/200 (स्नेलन) से अधिक न हो ; या

(iii) दृष्टि क्षेत्र की सीमा जो 20 डिग्री कोण वाली या उससे बदतर है ।"

अधिनियम की धारा 2(न) में "निःशक्त व्यक्ति" की परिभाषा दी गई है जो कि निम्नलिखित रूप में है :–

"(न) 'निःशक्त व्यक्ति' से ऐसा कोई व्यक्ति अभिप्रेत है जो किसी चिकित्सा प्राधिकारी द्वारा प्रमाणित किसी निःशक्तता के कम से कम चालीस प्रतिशत से ग्रस्त है ।"

13. अधिनियम के अध्याय 5 में समुचित सरकारों और स्थानीय प्राधिकारियों द्वारा निःशक्त बालकों के लिए निःशुल्क शिक्षा देने, अनौपचारिक शिक्षा आदि के लिए स्कीमें और कार्यक्रम बनाने के उपबंध किए गए हैं । अधिनियम का अध्याय 6 "निःशक्त व्यक्तियों" के लिए पदों पर आरक्षण के संबंध में है । अधिनियम की धारा 32 में यह कहा गया है कि समुचित सरकारें स्थापनों में, ऐसे पदों का पता लगाएंगी, जो निःशक्त व्यक्तियों के लिए आरक्षित किए जा सकते हैं और तीन वर्ष से अनधिक नियतकालिक अंतरालों पर पता लगाए गए पदों की सूची का पुनर्विलोकन करेंगी और प्रौद्योगिकी संबंधी विकासों को ध्यान में रखते हुए सूची को अद्यतन करेंगी । अधिनियम की धारा 33 "पदों के आरक्षण" के संबंध में है । अधिनियम की धारा 38 में यह उपबंध है कि समुचित सरकारें और स्थानीय प्राधिकारी, अधिसूचना द्वारा निःशक्त व्यक्तियों का नियोजन सुनिश्चित करने के लिए स्कीमें तैयार करेंगे । धारा 39 में सभी सरकारी शिक्षा संस्थाओं द्वारा निःशक्त व्यक्तियों के लिए स्थान आरक्षित करने का उपबंध किया गया है ।

14. अध्याय 7 "सकारात्मक कार्रवाई" के संबंध में है । अधिनियम की धारा 42 में यह कहा गया है कि समुचित सरकारें निःशक्त व्यक्तियों को सहाय यंत्र और साधित्र उपलब्ध कराने के लिए स्कीमें अधिसूचना द्वारा बनाएंगी । धारा 43 "कतिपय प्रयोजनों के लिए भूमि के अधिमानी आबंटन

के लिए स्कीमों" के संबंध में है और वह निम्नलिखित रूप में है :–

"43. **कतिपय प्रयोजनों के लिए भूमि के अधिमानी आबंटन के लिए स्कीमें** – समुचित सरकारें और स्थानीय प्राधिकारी, अधिसूचना द्वारा, निःशक्त व्यक्तियों को रियायती दरों पर भूमि का निम्नलिखित के लिए अधिमानी आबंटन करने की स्कीमें बनाएंगें, अर्थात् –

(क) गृह ;

(ख) कारबार की स्थापना ;

(ग) विशेष आमोद-प्रमोद केन्द्रों की स्थापना ;

(घ) विशेष विद्यालयों की स्थापना ;

(ङ) अनुसंधान केन्द्रों की स्थापना ;

(च) निःशक्त उद्यमकर्ताओं द्वारा कारखानों की स्थापना ।"

15. निःशक्तता अधिनियम का अध्याय 8 "विभेद का न किया जाना" के संबंध में है । अधिनियम की धारा 44 परिवहन में विभेद न किए जाने के संबंध में है जो कि निम्नलिखित रूप में है :–

"44. **परिवहन में विभेद का न किया जाना** – परिवहन सेक्टर के स्थापन, अपनी आर्थिक सामर्थ्य और विकास की सीमाओं के भीतर, निःशक्त व्यक्तियों के फायदे के लिए निम्नलिखित विशेष उपाय करेंगे अर्थात् –

(क) रेल के डिब्बों, बसों, जलयानों और वायुयानों को इस प्रकार अनुकूल बनाना जिससे कि ऐसे व्यक्ति उनमें सहज रूप से पहुंच सकें ;

(ख) रेल के डिब्बों, जलयानों, वायुयानों और प्रतीक्षागृहों में शौचालयों को इस प्रकार अनुकूल बनाना जिससे कि व्हील चेयर का प्रयोग करने वाले व्यक्ति उनका प्रयोग सुगमता से कर सकें ।"

16. निःशक्तता अधिनियम की धारा 45, 46 और 47 भी सुसंगत हैं जो कि निम्नलिखित रूप में हैं :–

"45. **सड़क पर विभेद का न किया जाना** – समुचित सरकारें और स्थानीय प्राधिकारी, अपनी आर्थिक सामर्थ्य और विकास की

सीमाओं के भीतर निम्नलिखित का उपबंध करेंगे, अर्थात् –

(क) दृष्टिक असुविधाग्रस्त व्यक्तियों के फायदे के लिए सार्वजनिक सड़कों पर लाल बत्तियों पर श्रवण संकेतों का प्रतिष्ठापन ;

(ख) व्हील चेयर का उपयोग करने वाले व्यक्तियों की सहज पहुंच के लिए किनारे काटना और पटरियों में ढलाने बनाना ;

(ग) दृष्टिहीन या कम दृष्टि वाले व्यक्तियों के लिए जैबरा क्रासिंग की सतह को उत्कीर्ण करना ;

(घ) दृष्टिहीन या कम दृष्टि वाले व्यक्तियों के लिए रेलवे प्लेटफार्म के किनारों को उत्कीर्ण करना ;

(ङ) निःशक्तता के समुचित प्रतीकों को विकसित करना ;

(च) समुचित स्थानों पर चेतावनी संकेतों को लगाना ।

46. **निर्मित परिवेश में विभेद का न किया जाना** – समुचित सरकारें और स्थानीय प्राधिकारी, अपनी आर्थिक सामर्थ्य और विकास की सीमाओं के भीतर, निम्नलिखित का उपबंध करेंगे, अर्थात् –

(क) सार्वजनिक भवनों में ढलवां रास्तों का उपबंध करना;

(ख) शौचालयों को, व्हील चेयर का उपयोग करने वाले व्यक्तियों के अनुकूल बनाना;

(ग) उत्थापकों और लिफ्टों में ब्रेल प्रतीकों और श्रवण संकेतों का उपबंध करना;

(घ) अस्पतालों, प्राथमिक स्वास्थ्य केन्द्रों और अन्य चिकित्सीय देखभाल और पुनर्वास संस्थाओं में ढलवां रास्तों का उपबंध करना ।

47. **सरकारी नियोजन में विभेद का न किया जाना** – (1) कोई स्थापन, ऐसे कर्मचारी को, जो सेवा के दौरान निःशक्त हो जाता है, सेवोन्मुक्त या पंक्तिच्युत नहीं करेगा :

परन्तु यदि कोई कर्मचारी निःशक्त हो जाने के पश्चात् उस पद के लिए जिसको वह धारण करता है, उपयुक्त नहीं रह जाता है तो

उसे, उसी वेतनमान और सेवा संबंधी फायदों वाले किसी अन्य पद पर स्थानांतरित किया जा सकेगा :

परन्तु यह और कि यदि किसी कर्मचारी को किसी पद पर समायोजित करना संभव नहीं है तो उसे समुचित पद उपलब्ध होने तक या उसके द्वारा अधिवर्षिता की आयु प्राप्त कर लेने तक, इनमें से जो भी पूर्वतर हो, किसी अधिसंख्य पद पर रखा जा सकेगा ।

(2) किसी व्यक्ति को, केवल उसकी निःशक्तता के आधार पर प्रोन्नति से वंचित नहीं किया जाएगा :

परन्तु यह कि समुचित सरकार, किसी स्थापन में किए जा रहे कार्य के प्रकार को ध्यान में रखते हुए, अधिसूचना द्वारा और ऐसी शर्तों के अधीन रहते हुए, यदि कोई हो, जो ऐसी अधिसूचना में विहित की जाए, किसी स्थापन को इस धारा के उपबंधों से छूट दे सकेगी ।"

17. अध्याय 12 "सामाजिक सुरक्षा" के संबंध में है । धारा 68 "बेरोजगारी भत्ते" के संबंध में है, जो कि निम्नलिखित रूप में है :–

"68. **बेरोजगारी भत्ता** – समुचित सरकारें, अपनी आर्थिक क्षमता और विकास की सीमाओं के भीतर, ऐसे निःशक्त व्यक्तियों के लिए, जो विशेष रोजगार कार्यालय में दो वर्ष से अधिक समय से रजिस्ट्रीकृत है और जिन्हें किसी लाभप्रद उपजीविका में नहीं लगाया जा सका है, बेरोजगारी भत्ता के संदाय के लिए एक स्कीम, अधिसूचना द्वारा, बनाएंगी ।"

18. निःशक्तता अधिनियम में, जैसा कि पहले उपदर्शित किया गया है, यह कहा गया है कि "निःशक्त व्यक्तियों" से ऐसे व्यक्ति अभिप्रेत हैं जो किसी चिकित्सा प्राधिकारी द्वारा प्रमाणित "किसी निःशक्तता" के कम से कम चालीस प्रतिशत से ग्रस्त है । जब कोई व्यक्ति धारा 2(झ) में उल्लिखित निःशक्तताओं में से किसी निःशक्तता से ग्रस्त है और चिकित्सा प्राधिकारी द्वारा इस प्रकार प्रमाणित किया जाता है तब वह सरकार द्वारा उपबंधित सभी स्कीमों और फायदों का हकदार होता है और विविध या भिन्न-भिन्न प्रकार की निःशक्तताओं वाले व्यक्तियों के बीच और कोई विभेद नहीं किया जा सकता है । हमारी राय में, सकारात्मक कार्रवाई के मामले में अंधता की निःशक्तता वाले किसी व्यक्ति और श्रवण-शक्ति का ह्रास की निःशक्तता वाले किसी व्यक्ति के बीच और विभेद नहीं हो सकता

है । निःशक्तता अधिनियम के अधीन ऐसा विभेद परिकल्पित नहीं है । धारा 2(झ) में उल्लिखित सभी प्रवर्गों के व्यक्तियों की अपनी-अपनी असुविधाएं हैं जो उनके लिए विशिष्ट हैं । दृष्टिक ह्रासित व्यक्ति की बराबरी श्रवण-शक्ति ह्रासित व्यक्ति से और श्रवण शक्ति ह्रासित व्यक्ति की बराबरी दृष्टिक ह्रासित व्यक्ति से नहीं की जा सकती है । इन दोनों की निःशक्तता भिन्न-भिन्न प्रकार और ढंग की है । किसी नेत्रहीन व्यक्ति के लिए, दृश्यता कमजोर और कभी-कभी शून्य प्रतिशत हो सकती है किन्तु वह सुनने और यह समझने में समर्थ होगा कि उसके आसपास क्या हो रहा है । इसी प्रकार, मूक-बधिर व्यक्ति देख सकेगा किन्तु इसके बारे में कुछ बोलने और सुनने में समर्थ नहीं होगा कि उसके आसपास क्या हो रहा है । उन प्रवर्गों के व्यक्तियों की निःशक्तता की प्रकृति एक जैसी नहीं हो सकती है किन्तु उन निःशक्तताओं के संबंध में, जिनसे वे ग्रस्त हैं चिन्ता और अनुकंपा दिखाई जानी चाहिए ।

19. भारत सरकार के वित्त मंत्रालय ने यह मत अपनाया कि दृष्टिक ह्रासित व्यक्ति की तुलना श्रवण-शक्ति ह्रासित व्यक्ति से नहीं की जा सकती है क्योंकि वे व्यक्ति जो मूक और बधिर हैं, एक स्थान से दूसरे स्थान पर आने-जाने के लिए शारीरिक रूप से अन्य व्यक्तियों पर निर्भर नहीं हैं, अतः वे दुगुनी दर पर परिवहन भत्ते के हकदार नहीं हैं । वित्त मंत्रालय द्वारा स्वास्थ्य और परिवार कल्याण मंत्रालय द्वारा की गई सिफारिशों के बावजूद श्रवण-शक्ति ह्रास से ग्रस्त सरकारी कर्मचारियों को परिवहन भत्ता न दिए जाने के लिए अभिव्यक्त मत कायम नहीं रखा जा सकता है । हमारा यह मत है कि बधिर और श्रवण-शक्ति ह्रासित कर्मचारियों द्वारा की जाने वाली यात्रा अधिनियम की धारा 2(झ) में निर्दिष्ट अन्य निःशक्तताओं वाले व्यक्तियों की तुलना में एकसमान दुश्कर और बोझिल होती है । श्रवण-शक्ति से ह्रासित व्यक्ति बस कंडक्टरों, आटो और टैक्सी चालकों से बातचीत नहीं कर सकते जैसे कि सामान्य व्यक्ति कर सकता है । उन्हें निरपवाद रूप से किसी अजनबी की सहायता लेनी पड़ती है । गंतव्य-स्थान पर पहुंचने के लिए सामान्य व्यक्तियों की तुलना में पर्याप्त रूप से अधिक समय और प्रयास की आवश्यकता पड़ती है । श्रवण-शक्ति से ह्रासित व्यक्ति को कभी-कभी सामान्य व्यक्तियों की तुलना में आने-जाने पर अधिक धनराशि खर्च करनी पड़ जाती है । कभी-कभी उसे अजनबियों या अन्य यात्रियों की सहायता लेने की आवश्यकता पड़ती है ।

20. श्रवण-शक्ति से ह्रासित व्यक्ति हार्न और गुजरने वाले यानों की आवाज़ सुनने में भी समर्थ नहीं होता है और कभी-कभी उसे सड़क पर

अन्य सह-यात्रियों या अजनबियों की सहायता लेनी होगी । हम इस मत का समर्थन करने में कठिनाई महसूस करते हैं कि अधिनियम की धारा 2(क) के अधीन श्रवण शक्ति से ह्रासित व्यक्तियों की बाबत परिकल्पित निःशक्तता किसी नेत्रहीन व्यक्ति की निःशक्तता से कम है । अधिनियम की धारा 2(झ) में उल्लिखित निःशक्तताओं वाले व्यक्तियों के बीच कभी भी न तो ऐसा कोई विभेद नहीं किया गया है और न ही इसकी कल्पना की गई है क्योंकि उनका अपना एक अलग वर्ग है । उनके बीच और विभेद करना स्पष्ट रूप से भारत के संविधान के अनुच्छेद 14 का अतिक्रमणकारी है ।

21. निःशक्तता अधिनियम एक सुपरिभाषित वर्ग, अर्थात् धारा 2(झ) में उल्लिखित "निःशक्त व्यक्तियों" के संबंध में है । निःशक्तता की प्रकृति धारा 2(झ) में सम्मिलित प्रत्येक व्यक्ति में भिन्न-भिन्न हो सकती है किन्तु ऐसे सभी व्यक्तियों को अधिनियम की धारा 2(न) के साथ पठित धारा 2(झ) के अधीन निःशक्त व्यक्तियों के एक समूह के रूप में वर्गीकृत किया गया है । हमारी राय में, वित्त मंत्रालय द्वारा जिस विभेद के संबंध में दलील देने की कोशिश की गई है उसका उस उद्देश्य से कोई तर्कसंगत संबंध नहीं है जो निःशक्तता अधिनियम द्वारा पूरा किया जाना ईप्सित है, जिसमें "निःशक्त व्यक्तियों" को समान अवसर, संरक्षण और अधिकार देना परिकल्पित है । सभी "निःशक्त व्यक्तियों" को सरकारी कृत्यों में भाग लेते समय विधि के समक्ष समता और विधि का समान संरक्षण प्रदान किया जाना चाहिए । सरकारी कर्मचारियों को परिवहन भत्ता दिया जाता है क्योंकि हो सकता है कि कई सरकारी कर्मचारी अपने कार्यस्थल के आसपास निवास न करते हों । कभी-कभी उन्हें आने-जाने के लिए लंबी दूरी तय करनी पड़ती है । निवास-स्थान से कार्यस्थल के बीच आने-जाने में लगने वाले समय में अत्यधिक वृद्धि हुई है जिससे कार्यालयों में कार्य परिवेश पर प्रतिकूल प्रभाव पड़ता है क्योंकि कर्मचारी अपनी काफी शक्ति आने-जाने में व्यय करते हैं और निःशक्त व्यक्तियों की दशा में यह स्थिति और भी गंभीर है ।

22. निःशक्त व्यक्ति राज्य आयोग, केरल ने तारीख 21 मार्च, 2003 के अपने पत्र द्वारा प्रत्यक्षतः उन पहलुओं को ध्यान में रखते हुए केरल सरकार से अनुरोध किया था कि मूक-बधिर कर्मचारियों को भी वाहन भत्ते का फायदा प्रदान किया जाए और उसके अनुसरण में केरल सरकार ने वित्त विभाग के तारीख 14 जून, 2005 के सरकारी आदेश (पी) सं. 277/

2005/वित्त द्वारा सरकारी आदेशों के अनुसार स्वीकृत वाहन भत्ते का फायदा निःशक्तता अधिनियम में परिभाषित निःशक्तता के अनुसार श्रवण-शक्ति से ह्रासित सरकारी कर्मचारियों को प्रदान कर दिया । आन्ध्र प्रदेश राज्य ने विसंगति समिति की सिफारिशों के आधार पर तारीख 17 दिसम्बर, 2004 का आदेश सं. 22, वित्त (परिवहन भत्ता) जारी किया और 2006 में एक सदस्यीय समिति की सिफारिश के आधार पर वित्त विभाग (परिवहन भत्ता) के तारीख 6 जुलाई, 2006 के सरकारी आदेश एम. एस. सं. 197 द्वारा वाहन भत्ते का फायदा शारीरिक रूप से असुविधाग्रस्त कर्मचारियों के समान मूक-बधिर कर्मचारियों को भी प्रदान कर दिया ।

23. मूक-बधिर व्यक्तियों की एक अंतर्भूत गरिमा होती है और उनकी गरिमा का सम्मान करना और उसकी संरक्षा करना राज्य की बाध्यता है । किसी मूक-बधिर व्यक्ति की मानवीय गरिमा को तब ठेस पहुंचती है जब उसे इस आधार पर अलग-थलग या अनदेखा कर दिया जाता है या कम आंका जाता है कि वह जिस निःशक्तता से ग्रस्त है वह दृष्टिक ह्रासित व्यक्ति की निःशक्तता के कम है जो कि हमारी राय में स्पष्ट रूप से भारत के संविधान के अनुच्छेद 21 का अतिक्रमण है । "निःशक्त व्यक्तियों" के बीच किसी तर्कसंगत आधार के बिना निःशक्तताओं की तुलना करना स्पष्ट रूप से भारत के संविधान के अनुच्छेद 14 का अतिक्रमणकारी है । हमारी राय में, स्वास्थ्य और परिवार कल्याण मंत्रालय द्वारा श्रवण-शक्ति के ह्रास से ग्रस्त सरकारी कर्मचारियों को नेत्रहीन और विकलांग सरकारी कर्मचारियों के समान परिवहन भत्ता देने के लिए की गई सिफारिश पूर्णतः विधिक है और वह भारत के संविधान के अनुच्छेद 14 और अनुच्छेद 21 के अनुकूल है ।

24. इन परिस्थितियों में, हम इस रिट याचिका को मंजूर करते हैं और प्रत्यर्थियों को यह निदेश देते हैं कि मूक-बधिर व्यक्तियों को भी केन्द्रीय सरकार और राज्य सरकारों और ऐसे अन्य स्थापनों के नेत्रहीन और विकलांग कर्मचारियों के समान परिवहन भत्ता प्रदान दिया जाए, जहां कहीं भी ऐसे फायदे नेत्रहीन और विकलांग कर्मचारियों को प्रदान किए गए हैं । तदनुसार आदेश किया जाता है ।

रिट याचिका मंजूर की गई ।

ग्रो.

पेरूमल

बनाम

जानकी

20 जनवरी, 2014

न्यायमूर्ति पी. सतशिवम् और न्यायमूर्ति जे. चेलामेश्वर

दंड प्रक्रिया संहिता, 1973 (1974 का 2) – धारा 191, 195, 211 और 340 – मिथ्या साक्ष्य के लिए अभियोजन किया जाना – विचारण न्यायालय और उच्च न्यायालय की शक्ति – यदि धारा 340 के अधीन न्यायिक मजिस्ट्रेट सं. 1 के समक्ष परिवाद फाइल नहीं किया गया है और न ही उस मजिस्ट्रेट ने स्वयमेव परिवाद फाइल किया है तब न्यायिक मजिस्ट्रेट सं. 2 जिसके समक्ष निजी परिवाद फाइल किया गया है, इस परिवाद को खारिज ही करेगा ।

दंड प्रक्रिया संहिता, 1973 (1974 का 2) – धारा 191, 195, 211 और 340 – उच्च न्यायालय की शक्ति – उच्च न्यायालय को सांविधानिक न्यायालय होने के नाते उस राज्यक्षेत्र में सभी न्यायालयों पर अधीक्षण रखने की शक्ति निहित की गई है जिस पर उच्च न्यायालय अपनी अधिकारिता का प्रयोग कर सकता है, अतः उच्च न्यायालय को विचारण न्यायालय के निर्णय पर पुनः विचार करने हेतु हस्तक्षेप करना होगा ।

इस मामले में प्रत्यर्थी महिला पुलिस थाना पोलाची में सुसंगत समय के दौरान उप निरीक्षण के पद पर सेवारत थी । तारीख 18 मई, 2008 को एक नागल ने प्रत्यर्थी को यह रिपोर्ट दी कि इस मामले में के अपीलार्थी ने उस महिला के साथ छल किया है । प्रत्यर्थी ने भारतीय दंड संहिता, 1860 की धारा 417 और 506(i) के अधीन आपराधिक मामला सं. 18/08 रजिस्ट्रीकृत किया । अपीलार्थी का विचारण किया गया जिसके परिणामस्वरूप उसे इन अपराधों से दोषमुक्त कर दिया गया । दोषमुक्ति के आधार पर अपीलार्थी ने न्यायिक मजिस्ट्रेट सं. 2 के समक्ष दंड संहिता की धारा 193 के अधीन अपराध के लिए प्राइवेट परिवाद फाइल किया । न्यायिक मजिस्ट्रेट सं. 2 ने उक्त परिवाद को संहिता की धारा 195 और 340 को दृष्टिगत करते हुए खारिज कर दिया । इस आदेश से व्यथित होकर अपीलार्थी ने मद्रास उच्च न्यायालय के समक्ष अपील फाइल की ।

उच्च न्यायालय ने निचले न्यायालयों के निर्णयों से सहमत होकर अपीलार्थी की अपील खारिज कर दी । अपीलार्थी ने उच्च न्यायालय के इस निर्णय के विरुद्ध उच्चतम न्यायालय में अपील फाइल की । अपील मंजूर करते हुए,

अभिनिर्धारित – न्यायालय की राय में, ऊपर उल्लिखित तथ्यों से प्रथमदृष्ट्या दंड संहिता की धारा 193 के अधीन अपराध नहीं बनता है किन्तु धारा 211 के अधीन अपराध गठित होता है । प्रथमदृष्ट्या यह मत व्यक्त करने का न्यायालय का मात्र यह कारण है कि इस मामले के किसी भी प्रक्रम पर इस पहलू पर विचार नहीं किया गया है और न ही किसी भी पक्षकार की ओर से न्यायालय के समक्ष कोई निवेदन किया गया है किन्तु न्यायालय इस मामले के मूल तथ्यों और विधिक स्थितियों पर विचार करने से अपने आप को नहीं रोक सकता । भारतीय दंड संहिता की धारा 193 के अधीन अपराध न्यायिक कार्यवाही के दौरान मिथ्या साक्ष्य देने या मिथ्या साक्ष्य गढ़ने का कार्य है । दंड संहिता की धारा 191 के अधीन मिथ्या साक्ष्य देने के कार्य को परिभाषित किया गया है । परिभाषा से यह स्पष्ट हो जाता है कि मिथ्या साक्ष्य देने के कृत्य को गठित करने के लिए, व्यक्ति को ऐसा कथन करना चाहिए जो कथन करने वाले के ज्ञान या विश्वास के अनुसार या तो मिथ्या हो या जिसके बारे में कथन करने वाले को यह विश्वास न हो कि वह सत्य है । इसके अतिरिक्त इसके अधीन यह अपेक्षा की गई है कि ऐसा कथन ऐसे व्यक्ति द्वारा किया जाना चाहिए (1) जो सशपथ वैध रूप से आबद्ध हो (2) विधि के किसी अभिव्यक्त उपबंध द्वारा सत्य कथन करने के लिए आबद्ध हो (3) वैध रूप से आबद्ध होते हुए किसी विषय पर घोषणा करे । आरोप-पत्र फाइल करने वाला पुलिस अधिकारी सशपथ कोई भी कथन नहीं करता और न ही वह सत्य कथन करने के लिए किसी भी अभिव्यक्त उपबंध द्वारा बाध्य है यद्यपि न्यायालय की राय में लोक सेवक होने के नाते वह सद्भावपूर्ण कार्य करने के लिए बाध्य है । आरोप-पत्र में पुलिस अधिकारी द्वारा किया गया कथन दंड संहिता की धारा 191 में उल्लिखित उपबंध के इस खंड अर्थात् "वैध रूप से आबद्ध होते हुए किसी विषय पर घोषणा करते हुए" के अर्थान्तर्गत ऐसा प्रश्न है या नहीं जिस पर पुनर्विचार किया जाना आवश्यक हो । इसके प्रतिकूल, दंड संहिता की धारा 211 कोई भी दांडिक कार्यवाहियों के संस्थित किए जाने या संस्थित कराए जाने या किसी व्यक्ति पर कोई अपराध कारित किए जाने का मिथ्या आरोप लगाने के बारे में है जबकि ऐसा करने के लिए उस व्यक्ति के ज्ञान में कोई भी उचित या विधिपूर्ण आधार न हो जिसने दांडिक कार्यवाहियां संस्थित की हैं या जिसने संस्थित कराई हैं । इस तथ्य को विचार में लाए बिना कि इस मामले में के अपीलार्थी के परिवाद से प्रकट

अपराध दंड संहिता की धारा 193 या धारा 211 के अधीन अपराध है या नहीं, दंड प्रक्रिया संहिता की धारा 195 के अधीन यह उपबंध किया गया है कि कोई भी न्यायालय संहिता की धारा 195 के अधीन विनिर्दिष्ट रीति के सिवाय अन्य किसी रीति में ऊपर उल्लिखित दोनों अपराधों में किसी भी अपराध का संज्ञान नहीं लेगा । (पैरा 15, 16, 17, 18 और 19)

स्वीकृततः, इस मामले में के अपीलार्थी ने संहिता की धारा 340 के अधीन न्यायिक मजिस्ट्रेट सं. 1 पोलाची के समक्ष इस मामले में के प्रत्यर्थी के विरुद्ध परिवाद फाइल करने के लिए आवेदन नहीं किया है और न ही उक्त मजिस्ट्रेट ने स्वयमेव परिवाद फाइल किया है । अतः, विद्वान् न्यायिक मजिस्ट्रेट सं. 2, जिसके समक्ष अपीलार्थी द्वारा निजी परिवाद फाइल किया गया है, के पास इस परिवाद को खारिज करने के सिवाय कोई विकल्प नहीं था । किन्तु, न्यायालय की राय में उक्त निजी परिवाद को खारिज करने वाले मजिस्ट्रेट के आदेश की शुद्धता पर विचार करने के संबंध में उच्च न्यायालय ने स्वयं को सीमित करके न्यायोचित नहीं किया है । संहिता की धारा 195(1) और धारा 340(2) दोनों ही के अधीन न्यायालय को प्रदत्त शक्तियों का प्रयोग करने के लिए प्राधिकृत किया गया है साथ ही धारा 195(1) के अधीन अन्य किसी न्यायालय द्वारा भी उस न्यायालय को शक्तियों का प्रयोग करने के लिए प्राधिकृत किया गया है जिसके अधीन अपराध कारित किया गया है और जिसके अधीनस्थ वह न्यायालय है । दंड प्रक्रिया संहिता, 1973 की धारा 195(4) की भाषा से यह पता चलता है कि इसमें विधि का भ्रमित अर्थ लगाया गया है जिसके द्वारा यह घोषित किया गया है कि मूल न्यायालय उस न्यायालय के अधीनस्थ है जिसके समक्ष आम तौर पर मूल न्यायालय के निर्णयों या आदेशों के विरुद्ध अपीलें फाइल की जाती हैं । न्यायालय की राय में, इस भ्रांति को भारत के संविधान, 1950 के अनुच्छेद 227 और दंड प्रक्रिया संहिता की धारा 10(1) तथा धारा 15(1) के संदर्भ में समझना चाहिए । अनुच्छेद 227 के अधीन उच्च न्यायालयों को राज्यक्षेत्रों के भीतर सभी न्यायालयों और ट्रायब्युनलों पर अधीक्षण रखने की शक्ति प्रदत्त की गई है जिसके संबंध में उच्च न्यायालय को अधिकारिता है । दंड प्रक्रिया संहिता की धारा 10(1) और 15(1) के अधीन यह उपबंध किया गया है कि सहायक सेशन न्यायाधीश और मुख्य न्यायिक मजिस्ट्रेट, सेशन न्यायाधीश के अधीनस्थ होते हैं और सेशन न्यायाधीश के नियंत्रण के अध्यधीन रहते हुए अन्य न्यायिक मजिस्ट्रेट, मुख्य न्यायिक मजिस्ट्रेट के अधीनस्थ होते हैं । यह ध्यान में रखना होगा कि संहिता की धारा 195(4), धारा 195(1)

में उल्लिखित विभिन्न अपराधों का संज्ञान लिए जाने के संदर्भ में बृहत्तर न्यायालय के प्राधिकार के बारे में है । ऐसे अपराध सिविल, दांडिक और राजस्व न्यायालयों आदि से संबंधित हैं । इन न्यायालयों के सभी प्रवर्गों में उनका अपना प्रशासनिक उत्क्रम होता है जो उस विधि के अंतर्गत आता है जिस विधि द्वारा ऐसे न्यायालयों का गठन किया जाता है । यह भी सुज्ञात है कि कुछ न्यायालयों की अपीली अधिकारिता होती है और कुछ न्यायालयों की मूल अधिकारिता होती है । अपीली अधिकारिता कानून द्वारा सृजित है और किसी विशिष्ट कानून के सिद्धांत पर निर्भर करते हुए विभिन्न प्रकार के अपील फोरम होते हैं । सामान्यतया, अपील फोरम विवाद की विषयवस्तु या आर्थिक समस्याओं या फिर अपराध की प्रकृति के आधार पर सृजित किए जाते हैं । अतः, धारा 195 की उपधारा (4) के अधीन कुल मिलाकर यह उपबंध किया गया है कि इस तथ्य को विचार में लाए बिना कि धारा 195(1) के अधीन शक्तियों का प्रयोग करने के प्रयोजनार्थ, न्यायिक प्रशासन के उत्क्रम में कोई न्यायालय विशेष एक अन्य न्यायालय के अधीनस्थ है या नहीं, प्रत्येक अपीली न्यायालय जो मूल न्यायालय द्वारा पारित की गई डिक्रियों या दंडादेशों के विरुद्ध अपीलें ग्रहण करने के लिए सक्षम हैं, उसे ऐसा न्यायालय माना जाएगा जो धारा 195(1) के अधीन अधिकारिता का प्रयोग करने के लिए समवर्ती रूप से सक्षम होगा । उच्च न्यायालयों को सांविधानिक न्यायालय होने के नाते उस राज्यक्षेत्र में सभी न्यायालयों पर अधीक्षण रखने की शक्ति निहित की गई है जिस पर उच्च न्यायालय अपनी अधिकारिता का प्रयोग कर सकता है, न्यायालय की राय में उच्च न्यायालय, वास्तव में ऐसा न्यायालय है जो धारा 195(1) के अधीन अधिकारिता का प्रयोग कर सकता है । किसी भी विशिष्ट सांविधानिक विहित परिसीमा के अभाव में, जब कोई न्याय के हित का प्रश्न उठाया गया हो तब उच्च न्यायालय ऐसी शक्ति का प्रयोग उसके समक्ष किए गए आवेदन पर कर सकता है या स्वयमेव भी कर सकता है । उच्च न्यायालयों को न केवल ऐसी अधिकारिता का प्रयोग करने का प्राधिकार प्राप्त है बल्कि समुचित मामलों में भी वे ऐसी शक्ति का प्रयोग करने के लिए आबद्ध हैं । न्यायालय की राय में, ऐसी बाध्यता के दो संघटक हैं – (1) धारा 195 के अधीन विहित अपराधों के संबंध में दांडिक कार्यवाहियां आरंभ करने के लिए व्यथित व्यक्तियों के स्वातंत्र्य को प्रतिषिद्ध करने वाली धारा 195 द्वारा सृजित निषेधाज्ञा का होना ; (2) ऐसे अपराधों का या तो लोक सेवकों के विधिपूर्ण प्राधिकार की अवमानना से संबंधित होना या लोक न्याय के विरुद्ध होना । वर्तमान मामले में अपीलार्थी ने यह

अभिकथन किया है कि उसे मिथ्या कथन के आधार पर अभियोजित किया गया है साथ ही परिवाद में उसके विरुद्ध यह भी अभिकथन किया गया है कि प्रत्यर्थी ने अनुचित फायदे के लिए किया है, न्यायालय की यह राय है कि यह ऐसा समुचित मामला है जिसमें उच्च न्यायालय को संहिता की धारा 195 के अधीन अधिकारिता का प्रयोग करना चाहिए था । प्रत्यर्थी के विरुद्ध परिवादी द्वारा किया गया अभिकथन असाधारण नहीं है । जैसाकि एक भिन्न संदर्भ में इस न्यायालय द्वारा पहले ही मत व्यक्त किया गया है अर्थात् "विधि का ऐसा कोई नियम नहीं है जिसके अनुसार व्यावहारिक ज्ञान को एक तरफ रख दिया जाए" । हमारा संविधान रोक और नियंत्रण के सिद्धांत पर रचा गया है । एक ऐसा सिद्धांत जो इस विश्वास का उत्पाद बन चुका है कि शक्ति का दुरुपयोग ही किया जाता है, ऐसा विश्वास अनुभव पर आधारित है । (पैरा 22, 23, 24, 25, 26 और 28)

निर्दिष्ट निर्णय

पैरा

[2005] (2005) 4 एस. सी. सी. 370 :
इकबाल सिंह मरवाह और एक अन्य बनाम **मीनाक्षी मरवाह और एक अन्य** । 24

अपीली (दांडिक) अधिकारिता : **2014 की दांडिक अपील सं. 169.**

2011 के दांडिक पुनरीक्षण मामला सं. 1119 में मद्रास उच्च न्यायालय के तारीख 19 अगस्त, 2011 के निर्णय और आदेश के विरुद्ध अपील ।

अपीलार्थी की ओर से सर्वश्री पी. आर. कोविलन पूंगकुंतरन, वी. वासुदेवन, (सुश्री) गीता कोविलन और टी. हरिश कुमार

प्रत्यर्थी की ओर से सुश्री ऐश्वर्या भाटी

न्यायालय का निर्णय न्यायमूर्ति जे. चेलामेश्वर ने दिया ।

न्या. चेलामेश्वर – इजाजत प्रदान की जाती है ।

2. मद्रास उच्च न्यायालय के 2000 के दांडिक पुनरीक्षण आवेदन सं. 1119 में किए गए आदेश से व्यथित होकर उस मामले में के असफल आवेदक ने वर्तमान अपील फाइल की है ।

3. दंड प्रक्रिया संहिता, 1973 (संक्षेप में "संहिता" कहा गया है) की धारा 200 के अधीन इस मामले में के अपीलार्थी द्वारा प्रत्यर्थी के विरुद्ध फाइल की गई 2010 की दांडिक प्रकीर्ण आवेदन सं. 4561, न्यायिक मजिस्ट्रेट सं. 2, पोलाची के तारीख 31 अगस्त, 2010 के निर्णय द्वारा खारिज कर दी गई । मजिस्ट्रेट के इस आदेश को चुनौती देते हुए उच्च न्यायालय के समक्ष उपर्युक्त दांडिक पुनरीक्षण आवेदन फाइल किया गया था ।

4. मामले की तथ्यात्मक पृष्ठभूमि इस प्रकार है ।

5. प्रत्यर्थी महिला पुलिस थाना पोलाची में सुसंगत समय के दौरान उप निरीक्षण के पद पर सेवारत थी । तारीख 18 मई, 2008 को एक नागल ने प्रत्यर्थी को यह रिपोर्ट दी कि इस मामले में के अपीलार्थी ने उस महिला के साथ छल किया है । प्रत्यर्थी ने भारतीय दंड संहिता, 1860 (जिसे इसमें इसके पश्चात् संक्षेप में "दंड संहिता" कहा गया है) की धारा 417 और 506(i) के अधीन आपराधिक मामला सं. 18/08 रजिस्ट्रीकृत किया । परिणामस्वरूप, प्रत्यर्थी ने आरोप-पत्र फाइल किया जिसका सुसंगत भाग निम्न प्रकार है :–

> "तारीख 26 दिसम्बर, 2007 को अभियुक्त ने वास्तविक परिवादी को बाहर घूमने के लिए बुलाया और जब रात्रि में लगभग 10.00 बजे वे वडुगपलायम इटोरी मार्ग से गुजर रहे थे तब अभियुक्त ने वास्तविक परिवादी को विवाह के लिए फुसलाया और उसने परिवादी के साथ निकट जंगल में कई बार लैंगिक समागम किया और इस कारण परिवादी गर्भवती हो गई और जब उस महिला ने अभियुक्त से विवाह करने को कहा तब अभियुक्त ने उस महिला परिवादी को यह धमकी दी कि वह इस तथ्य के बारे में किसी को न बताए अन्यथा वह उसकी हत्या कर देगा ।
>
> इस प्रकार अभियुक्त ने दंड संहिता की धारा 417 और 506(i) के अधीन दंडनीय अपराध कारित किया है ।"
>
> (बल देने के लिए रेखांकित किया गया है ।)

6. विद्वान् न्यायिक मजिस्ट्रेट सं. 1, पोलाची द्वारा ऊपर उल्लिखित अपराधों के लिए अपीलार्थी का विचारण किया गया । विद्वान् न्यायिक मजिस्ट्रेट ने अपने तारीख 15 मार्च, 2010 के निर्णय द्वारा अभियुक्त को दोनों आरोपों से दोषमुक्त कर दिया ।

7. ऐसा प्रतीत होता है कि उक्त निर्णय अंतिम हो गया है ।

8. दोषमुक्ति के आधार पर, अपीलार्थी ने न्यायिक मजिस्ट्रेट सं. 2 पोलाची के न्यायालय में संहिता की धारा 190 के अधीन 2010 की दांडिक प्रकीर्ण आवेदन सं. 4561 फाइल की जिसमें यह प्रार्थना की कि प्रत्यर्थी का विचारण दंड संहिता की धारा 193 के अधीन अपराध के लिए किया जाए । उक्त परिवाद 31 अगस्त, 2010 के आदेश द्वारा इस आधार पर खारिज कर दिया गया कि संहिता की धारा 195 और 340 को दृष्टिगत करते हुए इस मामले में के अपीलार्थी का परिवाद चलने योग्य नहीं है ।

9. खारिजी के उक्त आदेश से व्यथित होकर, इस मामले में के अपीलार्थी ने उच्च न्यायालय के समक्ष असफलतापूर्वक आवेदन किया । इस प्रकार वर्तमान अपील फाइल की गई है ।

10. इस मामले में के अपीलार्थी ने अपने परिवाद में यह पक्षकथन किया है कि यद्यपि नागल ने अपीलार्थी के विरुद्ध छल के अपराध का अभिकथन किया है जिसके परिणामस्वरूप नागल गर्भवती हो गई । किंतु यह अपराध अपीलार्थी के विरुद्ध साबित नहीं हुआ है । आपराधिक मामला सं. 18/08 का रजिस्ट्रीकरण किए जाने पर नागल की चिकित्सा परीक्षा कराई गई । उसे गर्भवती नहीं पाया गया । डा. गीता ने नागल की परीक्षा की है और उसने स्पष्ट रूप से यह राय व्यक्त की है कि परीक्षा की तारीख को नागल गर्भवती नहीं पाई गई थी और यह परीक्षा प्रथम इत्तिला रिपोर्ट दर्ज कराए जाने के पश्चात् छह दिनों के पश्चात् कराई गई थी । ऐसी स्पष्ट चिकित्सीय राय के बावजूद कि नागल गर्भवती नहीं है, प्रत्यर्थी ने इस अभिकथन के साथ आरोप-पत्र फाइल करने का निर्णय लिया है कि नागल गर्भवती है । अतः, अपीलार्थी के अनुसार आरोप-पत्र इस मामले में के प्रत्यर्थी द्वारा जानबूझकर दिए गए मिथ्या कथन के साथ फाइल किया गया है । अतः अपीलार्थी ने अपने परिवाद में निम्न प्रार्थना की है :–

> "अतः यह प्रार्थना की जाती है कि माननीय न्यायालय इस परिवाद को अभिलेख पर ले लें, परिवादी के विरुद्ध न्यायालय में जानबूझकर मिथ्या साक्ष्य देने के लिए दंड संहिता की धारा 193 के अधीन उसका विचारण किया जाए और उसे दंडित किया जाए और इसके अतिरिक्त माननीय न्यायालय जैसा भी ठीक और उचित आदेश समझे, आदेश पारित किया जाए ।"

11. विद्वान् मजिस्ट्रेट ने इस आधार पर परिवाद खारिज कर दिया कि

संहिता की धारा 195 के अधीन दांडिक न्यायालयों को दंड संहिता की धारा 193 के अधीन अपराध का संज्ञान लेने के लिए वर्जित किया गया है सिवाए इसके कि उस न्यायालय में चलाई गई किसी भी कार्यवाही के संबंध में जहां दंड संहिता की धारा 193 के अधीन अपराध कारित किया गया बताया गया है, उस न्यायालय या उस न्यायालय के किसी अधिकारी द्वारा लिखित परिवाद हो और वर्तमान जैसा कोई भी प्राइवेट परिवाद चलने योग्य नहीं होगा ।

12. उच्च न्यायालय ने अपनी पुनरीक्षण अधिकारिता का प्रयोग करने के लिए इस मामले में हस्तक्षेप करने से इनकार कर दिया । इस आदेश का प्रवर्तनशील भाग, जिसे चुनौती दी गई है, इस प्रकार है :–

> "3. ..... यह न्यायालय, परिवाद खारिज करने वाले निचले न्यायालय के निष्कर्ष से सहमत है । परिवाद में ऐसी सामग्री बहुत ही कम है जिसके आधार पर कार्रवाई की जा सके, विशेषकर जब इस न्यायालय का यह निष्कर्ष हो कि प्रत्यर्थी ने किसी भी प्रकार से चिकित्सीय साक्ष्य के साथ छेड़छाड़ नहीं की है ताकि याची को अपराध के लिए दायी ठहराया जा सके । अंतिम रिपोर्ट में प्रयोग की गई भाषा से यह प्रकट होता है कि वास्तविक परिवादी गर्भवती है किन्तु यह तथ्य मामले के तथ्यों और परिस्थितियों को ध्यान में रखते हुए एक भूल प्रतीत होता है ।
>
> 4. परिणामतः, दांडिक पुनरीक्षण आवेदन खारिज किया जाता है ।"

13. हमें अभिलेख पर यह बात कहते हुए खेद हो रहा है कि इस मामले के प्रत्येक प्रक्रम पर जांच की कार्यवाही को भ्रमित किया गया है ।

14. वर्तमान मुद्दे के साथ सुसंगत तथ्य इस प्रकार हैं :–

> "1. अपीलार्थी का अभियोजन दंड संहिता की धारा 417 और 506 के अधीन अपराधों के लिए किया गया है । तथ्यात्मक अभिकथन, जिनके आधार पर यह अभियोजन चलाया गया है, पहले ही उल्लिखित किए जा चुके हैं ।
>
> 2. प्रत्यर्थी ने इस प्रकथन के साथ आरोप-पत्र फाइल किया था कि अपीलार्थी, नागल के गर्भवती हो जाने के लिए जिम्मेदार है ।
>
> 3. आरोप-पत्र फाइल करने के पूर्व भी, प्रत्यर्थी के लिए सुनिश्चित चिकित्सीय राय उपलब्ध थी । (जो अपीलार्थी के विरुद्ध

अभिकथित अपराध के अन्वेषण के दौरान प्राप्त कर ली गई थी) कि नागल गर्भवती नहीं है ।

4. फिर भी प्रत्यर्थी ने आरोप-पत्र में यही प्रकथन किया है कि नागल गर्भवती है ।

5. अपीलार्थी का अभियोजन किए जाने पर उसकी दोषमुक्ति हो गई है ।"

15. हमारी राय में, ऊपर उल्लिखित तथ्यों से प्रथमदृष्ट्या दंड संहिता की धारा 193 के अधीन अपराध नहीं बनता है किन्तु धारा 211 के अधीन अपराध गठित होता है । प्रथमदृष्ट्या यह मत व्यक्त करने का हमारा मात्र यह कारण है कि इस मामले के किसी भी प्रक्रम पर इस पहलू पर विचार नहीं किया गया है और न ही किसी भी पक्षकार की ओर से हमारे समक्ष कोई निवेदन किया गया है किन्तु हम इस मामले के मूल तथ्यों और विधिक स्थितियों पर विचार करने से अपने आप को नहीं रोक सकते ।

16. भारतीय दंड संहिता की धारा 193[1] के अधीन अपराध न्यायिक कार्यवाही के दौरान मिथ्या साक्ष्य देने या मिथ्या साक्ष्य गढ़ने का कार्य है । दंड संहिता की धारा 191 के अधीन मिथ्या साक्ष्य देने के कार्य को इस प्रकार परिभाषित किया गया है :–

> **"191. मिथ्या साक्ष्य देना** – जो कोई शपथ द्वारा या विधि के किसी अभिव्यक्त उपबंध द्वारा सत्य कथन करने के लिए वैध रूप से आबद्ध होते हुए, या किसी विषय पर घोषणा करने के लिए विधि द्वारा आबद्ध होते हुए, ऐसा कोई कथन करेगा, जो मिथ्या है, और या तो जिसके मिथ्या होने का उसे ज्ञान है या विश्वास है, या जिसके सत्य होने का उसे विश्वास नहीं है, वह मिथ्या साक्ष्य देता है, यह कहा जाता है ।

---

[1] **193. मिथ्या साक्ष्य के लिए दंड** – जो कोई साशय किसी न्यायिक कार्यवाही के किसी प्रक्रम में मिथ्या साक्ष्य देगा या किसी न्यायिक कार्यवाही के किसी प्रक्रम में उपयोग में लाए जाने के प्रयोजन से मिथ्या साक्ष्य गढ़ेगा, वह दोनों में से किसी भांति के कारावास से, जिसकी अवधि सात वर्ष तक की हो सकेगी, दंडित किया जाएगा, और जुर्माने से भी, दंडनीय होगा ;

और जो कोई किसी अन्य मामले में साशय मिथ्या साक्ष्य देगा या गढ़ेगा, वह दोनों में से किसी भांति के कारावास से, जिसकी अवधि तीन वर्ष तक की हो सकेगी, दंडित किया जाएगा, और जुर्माने से भी दंडनीय होगा ।

स्पष्टीकरण 1 – सेना न्यायालय के समक्ष विचारणीय न्यायिक कार्यवाही है ।

स्पष्टीकरण 2 – न्यायालय के समक्ष कार्यवाही आरंभ होने के पूर्व जो विधि द्वारा निर्दिष्ट अन्वेषण होता है, वह न्यायिक कार्यवाही का एक प्रक्रम है, चाहे वह अन्वेषण किसी न्यायालय के सामने न भी हो ।

स्पष्टीकरण I – कोई कथन चाहे वह मौखिक हो, या अन्यथा किया गया हो, इस धारा के अन्तर्गत आता है ।

स्पष्टीकरण II – अनुप्रमाणित करने वाले व्यक्ति के अपने विश्वास के बारे में मिथ्या कथन इस धारा के अर्थ के अन्तर्गत आता है और कोई व्यक्ति यह कहने से कि उसे उस बात का विश्वास है, जिस बात का उसे विश्वास नहीं है, तथा यह कहने से कि वह उस बात को जानता है जिस बात को वह नहीं जानता, मिथ्या साक्ष्य देने का दोषी हो सकेगा ।"

परिभाषा से यह स्पष्ट हो जाता है कि मिथ्या साक्ष्य देने के कृत्य को गठित करने के लिए, व्यक्ति को ऐसा कथन करना चाहिए जो कथन करने वाले के ज्ञान या विश्वास के अनुसार या तो मिथ्या हो या जिसके बारे में कथन करने वाले को यह विश्वास न हो कि वह सत्य है । इसके अतिरिक्त इसके अधीन यह अपेक्षा की गई है कि ऐसा कथन ऐसे व्यक्ति द्वारा किया जाना चाहिए (1) जो सशपथ वैध रूप से आबद्ध हो (2) विधि के किसी अभिव्यक्त उपबंध द्वारा सत्य कथन करने के लिए आबद्ध हो (3) वैध रूप से आबद्ध होते हुए किसी विषय पर घोषणा करे ।

17. आरोप-पत्र फाइल करने वाला पुलिस अधिकारी सशपथ कोई भी कथन नहीं करता और न ही वह सत्य कथन करने के लिए किसी भी अभिव्यक्त उपबंध द्वारा बाध्य है यद्यपि हमारी राय में लोक सेवक होने के नाते वह सद्भावपूर्ण कार्य करने के लिए बाध्य है । आरोप-पत्र में पुलिस अधिकारी द्वारा किया गया कथन दंड संहिता की धारा 191 में उल्लिखित उपबंध के इस खंड अर्थात् "वैध रूप से आबद्ध होते हुए किसी विषय पर घोषणा करते हुए" के अर्थान्तर्गत ऐसा प्रश्न है या नहीं जिस पर पुनर्विचार किया जाना आवश्यक हो ।

18. इसके प्रतिकूल, दंड संहिता की धारा 211 कोई भी दांडिक कार्यवाहियों के संस्थित किए जाने या संस्थित कराए जाने या किसी व्यक्ति पर कोई अपराध कारित किए जाने का मिथ्या आरोप लगाने के बारे में है जबकि ऐसा करने के लिए उस व्यक्ति के ज्ञान में कोई भी उचित या विधिपूर्ण आधार न हो जिसने दांडिक कार्यवाहियां संस्थित की हैं या जिसने संस्थित कराई हैं ।

19. इस तथ्य को विचार में लाए बिना कि इस मामले में के अपीलार्थी के परिवाद से प्रकट अपराध दंड संहिता की धारा 193 या धारा

211 के अधीन अपराध है या नहीं, दंड प्रक्रिया संहिता की धारा 195 के अधीन यह उपबंध किया गया है कि कोई भी न्यायालय संहिता की धारा 195 के अधीन विनिर्दिष्ट रीति के सिवाय अन्य किसी रीति में ऊपर उल्लिखित दोनों अपराधों में किसी भी अपराध का संज्ञान नहीं लेगा :–

> "**195. लोक न्याय के विरुद्ध अपराधों के लिए और साक्ष्य में दिए गए दस्तावेजों से संबंधित अपराधों के लिए लोक सेवकों के विधिपूर्ण प्राधिकार के अवमान्य के लिए अभियोजन** – (1) कोई न्यायालय
>
> (क) * * * * * *
>
> (ख) (i) भारतीय दंड संहिता (1860 का 45) की निम्नलिखित धाराओं अर्थात् 193 से 196 (जिनके अन्तर्गत ये दोनों धाराएं भी हैं), 191, 200, 205 से 211 (जिनके अन्तर्गत ये दोनों धाराएं भी हैं) और 228 में से किन्हीं के अधीन दंडनीय किसी अपराध का, जब ऐसे अपराध के बारे में यह अभिकथित है कि वह किसी न्यायालय में की कार्यवाही में या उसके संबंध में किया गया है ; अथवा
>
> संज्ञान ऐसे न्यायालय के, न्यायालय के ऐसे अधिकारी जिसे न्यायालय इस संबंध में लिखित में प्राधिकृत करे या अन्य किसी न्यायालय के जिसके वह न्यायालय अधीनस्थ है, लिखित परिवाद पर ही करेगा, अन्यथा नहीं ।'

20. संहिता की धारा 195 की भाषा के आधार पर हम इस मामले में के अपीलार्थी के परिवाद को खारिज करने में विद्वान् मजिस्ट्रेट के निष्कर्ष की आलोचना नहीं करेंगे जिसका यह कारण है कि परिवाद संहिता की धारा 195 के अधीन अनुध्यात व्यक्ति द्वारा फाइल नहीं किया गया है । यहां यह बात उल्लेखनीय है कि वास्तव में जिस न्यायालय के समक्ष वर्तमान परिवाद फाइल किया गया था वह, वह न्यायालय नहीं है जिसके समक्ष इस मामले में के अपीलार्थी को प्रत्यर्थी द्वारा अभियोजित किया गया था ।

21. दंड प्रक्रिया संहिता की धारा 340(1) के अधीन यह अनुबंध किया गया है कि जब कभी यह प्रतीत होता हो कि धारा 195 की उपधारा (1) के खंड (ख) में उल्लिखित कोई भी अपराध न्यायालय के समक्ष चल रही कार्यवाहियों में या उनके संबंध में कारित किया गया है तब न्यायालय उसके समक्ष किए गए आवेदन के आधार पर या अन्यथा दंड प्रक्रिया

संहिता की धारा 340[1] के अधीन उल्लिखित प्रक्रिया का अनुसरण करने के पश्चात् सक्षम मजिस्ट्रेट के समक्ष इस संबंध में लिखित में परिवाद फाइल करे ।

22. स्वीकृततः, इस मामले में के अपीलार्थी ने संहिता की धारा 340 के अधीन न्यायिक मजिस्ट्रेट सं. 1 पोलाची के समक्ष इस मामले में के प्रत्यर्थी के विरुद्ध परिवाद फाइल करने के लिए आवेदन नहीं किया है और न ही उक्त मजिस्ट्रेट ने स्वयमेव परिवाद फाइल किया है । अतः, विद्वान् न्यायिक मजिस्ट्रेट सं. 2, जिसके समक्ष अपीलार्थी द्वारा निजी परिवाद फाइल किया गया है, के पास इस परिवाद को खारिज करने के सिवाय कोई विकल्प नहीं था ।

23. किन्तु, हमारी राय में उक्त निजी परिवाद को खारिज करने वाले मजिस्ट्रेट के आदेश की शुद्धता पर विचार करने के संबंध में उच्च न्यायालय ने स्वयं को सीमित करके न्यायोचित नहीं किया है । संहिता की धारा 195(1) और धारा 340(2) दोनों ही के अधीन न्यायालय को प्रदत्त

---

[1] **340. धारा 195 में वर्णित मामलों में प्रक्रिया** – (1) जब किसी न्यायालय की, उससे इस निमित्त किए गए आवेदन पर या अन्यथा, यह राय है कि न्याय के हित में यह समीचीन है कि धारा 195 की उपधारा (1) के खंड (ख) में निर्दिष्ट किसी अपराध की, जो उसे, यथास्थिति, उस न्यायालय की कार्यवाही में या उसके संबंध में अथवा उस न्यायालय की कार्यवाही में पेश की गई या साक्ष्य में दी गई दस्तावेज के बारे में किया हुआ प्रतीत होता है, जांच की जानी चाहिए तब ऐसा न्यायालय ऐसी प्रारंभिक जांच के पश्चात् यदि कोई हो, जैसी वह आवश्यक समझे, –

(क) उस भाव का निष्कर्ष अभिलिखित कर सकता है ;

(ख) उसका लिखित परिवाद कर सकता है ;

(ग) उसे अधिकारिता रखने वाले प्रथम वर्ग मजिस्ट्रेट को भेज सकता है ;

(घ) ऐसे मजिस्ट्रेट के समक्ष अभियुक्त के हाजिर होने के लिए पर्याप्त प्रतिभूति ले सकता है अथवा यदि अभिकथित अपराध अजमानतीय है और न्यायालय ऐसा करना आवश्यक समझता है तो, अभियुक्त को ऐसे मजिस्ट्रेट के पास अभिरक्षा में भेज सकता है ; और

(ङ) ऐसे मजिस्ट्रेट के समक्ष हाजिर होने और साक्ष्य देने के लिए किसी व्यक्ति को आबद्ध कर सकता है ।

(2) किसी अपराध के बारे में न्यायालय को उपधारा (1) द्वारा प्रदत्त शक्ति का प्रयोग, ऐसे मामले में जिसमें उस न्यायालय ने उपधारा (1) के अधीन उस अपराध के बारे में न तो परिवाद किया है और न ऐसे परिवाद के किए जाने के लिए आवेदन को नामंजूर किया है, उस न्यायालय द्वारा किया जा सकता है जिसके ऐसा पूर्वकथित न्यायालय धारा 195 की उपधारा (4) के अर्थ में अधीनस्थ है ।

(3) इस धारा के अधीन किए गए परिवाद पर हस्ताक्षर, –

(क) जहां परिवाद करने वाला न्यायालय उच्च न्यायालय है वहां उस न्यायालय के ऐसे अधिकारी द्वारा किए जाएंगे, जिसे वह न्यायालय नियुक्त करे ;

(ख) किसी अन्य मामले में, न्यायालय के पीठासीन अधिकारी द्वारा या न्यायालय के ऐसे अधिकारी द्वारा, जिसे न्यायालय इस निमित्त लिखित में प्राधिकृत करे, किए जाएंगे ।

(4) इस धारा में ''न्यायालय'' का वही अर्थ है जो धारा 195 में है ।

शक्तियों का प्रयोग करने के लिए प्राधिकृत किया गया है साथ ही धारा 195(1) के अधीन अन्य किसी न्यायालय द्वारा भी उस न्यायालय को शक्तियों का प्रयोग करने के लिए प्राधिकृत किया गया है जिसके अधीन अपराध कारित किया गया है और जिसके अधीनस्थ वह न्यायालय है । (जिसे इसमें इसके पश्चात् सुविधा के लिए "मूल न्यायालय" कहा गया है) ।

24. दंड प्रक्रिया संहिता, 1973 की धारा 195(4) की भाषा से यह पता चलता है कि इसमें विधि का भ्रमित अर्थ लगाया गया है जिसके द्वारा यह घोषित किया गया है कि मूल न्यायालय उस न्यायालय (जिसे इसमें इसके पश्चात् "अपील न्यायालय" निर्दिष्ट किया गया है) के अधीनस्थ है जिसके समक्ष आम तौर पर मूल न्यायालय के निर्णयों या आदेशों के विरुद्ध अपीलें फाइल की जाती हैं । हमारी राय में, इस भ्रांति को भारत के संविधान, 1950 के अनुच्छेद 227[1] और दंड प्रक्रिया संहिता की धारा 10(1) तथा धारा 15(1) के संदर्भ में समझना चाहिए । अनुच्छेद 227 के अधीन उच्च न्यायालयों को राज्यक्षेत्रों के भीतर सभी न्यायालयों और ट्रायब्युनलों पर अधीक्षण रखने की शक्ति प्रदत्त की गई है जिसके संबंध में उच्च न्यायालय को अधिकारिता है । दंड प्रक्रिया संहिता की धारा 10(1)[2]

---

[1] **अनुच्छेद 227. सभी न्यायालयों के अधीक्षण की उच्च न्यायालय की शक्ति** – (1) प्रत्येक उच्च न्यायालय उन राज्यक्षेत्रों में सर्वत्र, जिनके संबंध में वह अपनी अधिकारिता का प्रयोग करता है, सभी न्यायालयों और अधिकरणों का अधीक्षण करेगा ।

(2) पूर्वगामी उपबंध की व्यापकता पर प्रतिकूल प्रभाव डाले बिना, उच्च न्यायालय :–

(क) ऐसे न्यायालयों से विवरणी मंगा सकेगा ;

(ख) ऐसे न्यायालयों की पद्धति और कार्यवाहियों के विनियमन के लिए साधारण नियम और प्ररूप बना सकेगा, और निकाल सकेगा तथा विहित कर सकेगा ; और

(ग) किन्हीं ऐसे न्यायालयों के अधिकारियों द्वारा रखी जाने वाली पुस्तकों, प्रविष्टियों और लेखाओं के प्ररूप विहित कर सकेगा ।

(3) उच्च न्यायालय उन फीसों की सारणियां भी स्थिर कर सकेगा जो ऐसे न्यायालयों के शैरिफ को तथा सभी लिपिकों और अधिकारियों को तथा उनमें विधि-व्यावसाय करने वाले अटार्नियों, अधिवक्ताओं और प्लीडरों को अनुज्ञेय होंगी :

परंतु खंड (2) या खंड (3) के अधीन बनाए गए कोई नियम, विहित किए गए कोई प्ररूप या स्थिर की गई कोई सारणी तत्समय प्रवृत्त किसी विधि के उपबंध से असंगत नहीं होगी और इनके लिए राज्यपाल के पूर्व अनुमोदन की अपेक्षा होगी ।

(4) इस अनुच्छेद की कोई बात उच्च न्यायालय को सशस्त्र बलों से संबंधित किसी विधि द्वारा या उसके अधीन गठित किसी न्यायालय या अधिकरण पर अधीक्षण की शक्तियां देने वाली नहीं समझी जाएंगी ।

[2] **धारा 10. सहायक सेशन न्यायाधीशों का अधीनस्थ होना –** (1) सब सहायक सेशन न्यायाधीश उस सेशन न्यायाधीश के अधीनस्थ होंगे जिसके न्यायालय में वे अधिकारिता का प्रयोग करते हैं ।

और 15(1)[1] के अधीन यह उपबंध किया गया है कि सहायक सेशन न्यायाधीश और मुख्य न्यायिक मजिस्ट्रेट, सेशन न्यायाधीश के अधीनस्थ होते हैं और सेशन न्यायाधीश के नियंत्रण के अध्यधीन रहते हुए अन्य न्यायिक मजिस्ट्रेट, मुख्य न्यायिक मजिस्ट्रेट के अधीनस्थ होते हैं । यह ध्यान में रखना होगा कि संहिता की धारा 195(4), धारा 195(1) में उल्लिखित विभिन्न अपराधों का संज्ञान लिए जाने के संदर्भ में बृहत्तर न्यायालय के प्राधिकार के बारे में है । ऐसे अपराध सिविल, दांडिक और राजस्व न्यायालयों आदि से संबंधित हैं[2] । इन न्यायालयों के सभी प्रवर्गों में उनका अपना प्रशासनिक उत्क्रम होता है जो उस विधि के अंतर्गत आता है जिस विधि द्वारा ऐसे न्यायालयों का गठन किया जाता है । यह भी सुज्ञात है कि कुछ न्यायालयों की अपीली अधिकारिता होती है और कुछ न्यायालयों की मूल अधिकारिता होती है । अपीली अधिकारिता कानून द्वारा सृजित है और किसी विशिष्ट कानून के सिद्धांत पर निर्भर करते हुए विभिन्न प्रकार के अपील फोरम होते हैं । सामान्यतया, अपील फोरम विवाद की विषयवस्तु या आर्थिक समस्याओं या फिर अपराध की प्रकृति के आधार पर सृजित किए जाते हैं ।

25. अतः, धारा 195 की उपधारा (4) के अधीन कुल मिलाकर यह उपबंध किया गया है कि इस तथ्य को विचार में लाए बिना कि धारा 195(1) के अधीन शक्तियों का प्रयोग करने के प्रयोजनार्थ, न्यायिक प्रशासन के उत्क्रम में कोई न्यायालय विशेष एक अन्य न्यायालय के अधीनस्थ है या नहीं, प्रत्येक अपीली न्यायालय जो मूल न्यायालय द्वारा पारित की गई डिक्रियों या दंडादेशों के विरुद्ध अपीलें ग्रहण करने के लिए सक्षम हैं, उसे ऐसा न्यायालय माना जाएगा जो धारा 195(1) के अधीन अधिकारिता का प्रयोग करने के लिए समवर्ती रूप से सक्षम होगा । उच्च न्यायालयों को सांविधानिक न्यायालय होने के नाते उस राज्यक्षेत्र में सभी न्यायालयों पर अधीक्षण रखने की शक्ति निहित की गई है जिस पर उच्च

---

[1] **धारा 15. न्यायिक मजिस्ट्रेटों का अधीनस्थ होना –** (1) प्रत्येक मुख्य न्यायिक मजिस्ट्रेट, सेशन न्यायाधीश के अधीनस्थ होगा और प्रत्येक अन्य न्यायिक मजिस्ट्रेट, सेशन न्यायाधीश के साधारण नियंत्रण के अधीन रहते हुए, मुख्य न्यायिक मजिस्ट्रेट के अधीनस्थ होगा ।

[2] **धारा 195.** (3) उपधारा (1) के खंड (ख) में ''न्यायालय'' शब्द से कोई सिविल, राजस्व या दंड न्यायालय अभिप्रेत है और उसके अंतर्गत किसी केंद्रीय, प्रांतीय या राज्य अधिनियम द्वारा या उसके अधीन गठित कोई अधिकरण भी है यदि वह उस अधिनियम द्वारा इस धारा के प्रयोजनार्थ न्यायालय घोषित किया गया है ।

न्यायालय अपनी अधिकारिता का प्रयोग कर सकता है, हमारी राय में उच्च न्यायालय, वास्तव में ऐसा न्यायालय है जो धारा 195(1) के अधीन अधिकारिता का प्रयोग कर सकता है । किसी भी विशिष्ट सांविधानिक विहित परिसीमा के अभाव में, जब कोई न्याय के हित का प्रश्न उठाया गया हो तब उच्च न्यायालय ऐसी शक्ति का प्रयोग उसके समक्ष किए गए आवेदन पर कर सकता है या स्वयमेव भी कर सकता है ।

26. उच्च न्यायालयों को न केवल ऐसी अधिकारिता का प्रयोग करने का प्राधिकार प्राप्त है बल्कि समुचित मामलों में भी वे ऐसी शक्ति का प्रयोग करने के लिए आबद्ध हैं । हमारी राय में, ऐसी बाध्यता के दो संघटक हैं – (1) धारा 195 के अधीन विहित अपराधों के संबंध में दांडिक कार्यवाहियां आरंभ करने के लिए व्यथित व्यक्तियों के स्वातंत्र्य को प्रतिषिद्ध करने वाली धारा 195 द्वारा सृजित निषेधाज्ञा का होना ; (2) ऐसे अपराधों का या तो लोक सेवकों के विधिपूर्ण प्राधिकार की अवमानना से संबंधित होना या लोक न्याय के विरुद्ध होना ।

27. **इकबाल सिंह मरवाह और एक अन्य** बनाम **मीनाक्षी मरवाह और एक अन्य**[1] वाले मामले में इस न्यायालय की सांविधानिक न्यायिक पीठ ने दंड संहिता की धारा 195 का निर्वचन करते हुए, यद्यपि एक भिन्न संदर्भ में, यह अभिनिर्धारित किया है कि ऐसा कोई भी निर्वचन जिससे ऐसी स्थिति प्रकट हो जिसमें अपराध से आहत किसी व्यक्ति को उपचार उपलब्ध कराया गया हो, त्यक्त किया जाना चाहिए[2] । अन्य किसी शक्ति

---

[1] (2005) 4 एस. सी. सी. 370.

[2] 23. संहिता की धारा 340 में प्रयोग की गई भाषा को दृष्टिगत करते हुए, न्यायालय संहिता की धारा 195(1)(ख) में निर्दिष्ट अपराध कारित किए जाने के संबंध में परिवाद करने के लिए आबद्ध नहीं हैं, जैसा कि इस धारा के अंतर्गत यह शर्त रखी गई है कि, ''न्यायालय की यह राय है कि न्याय के हित के लिए यह समीचीन है'' । इससे यह प्रतीत होता है ऐसा तरीका प्रत्येक मामले में नहीं अपितु केवल तब अपनाया जाएगा जब न्याय का हित अपेक्षित हो । परिवाद फाइल करने के विरुद्ध, न्यायालय प्राथमिक जांच करा सकता है और इस संबंध में निष्कर्ष अभिलिखित कर सकता है कि न्याय के हित में यह समीचीन है कि संहिता की धारा 195(1)(ख) में निर्दिष्ट किसी भी अपराध में जांच की जानी चाहिए । सामान्यतः, इस समीचीनता पर आहत व्यक्ति को ऐसी कूट रचना से या कूट रचित दस्तावेज से पहुंची क्षति की गंभीरता को ध्यान में रखते हुए न्यायालय द्वारा विचार नहीं किया जाएगा बल्कि इस बात को ध्यान में रखते हुए अवेक्षा करनी होगी कि ऐसा अपराध कारित किए जाने से न्याय प्रशासन पर उसका क्या प्रभाव पड़ता है । यह संभव है कि ऐसे कूटरचित दस्तावेज या कूटरचना से किसी व्यक्ति को अतिगंभीर या सारभूत क्षति इस प्रभाव से कारित हो सकती है कि वह किसी मूल्यवान संपत्ति या हैसियत या इसी प्रकार की किसी बात से वंचित हो सकता है, किंतु ऐसा दस्तावेज ऐसा साक्ष्य होना चाहिए जो न्यायालय में साक्ष्य के रूप में प्रस्तुत किया गया हो जहां विस्तृत साक्ष्य प्रस्तुत किया गया हो और न्याय प्रशासन के व्यापक सिद्धांत पर ऐसे साक्ष्य का प्रभाव न्यूनतम हो । ऐसी परिस्थितियों में न्यायालय परिवाद करना न्याय के हित के लिए समीचीन नहीं समझता है । खंड (ख)(ii) का व्यापक दृष्टिकोण अपनाने से,

की तरह अधीक्षण की शक्ति के अधीन विवक्षित रूप से यह बाध्यता बनती है कि न्यायालय समुचित मामलों में शक्ति का प्रयोग करे ताकि प्रक्रिया की महिमा और विधिक तंत्र की शुद्धता बनी रहे । ऐसी बाध्यता तब और बढ़ जाती है जब अपराध कारित किए जाने के ये अभिकथन लोक न्याय से संबंधित होते हैं ।

28. वर्तमान मामले में अपीलार्थी ने यह अभिकथन किया है कि उसे मिथ्या कथन के आधार पर अभियोजित किया गया है साथ ही परिवाद में उसके विरुद्ध यह भी अभिकथन किया गया है कि प्रत्यर्थी ने अनुचित फायदे के लिए किया है, हमारी यह राय है कि यह ऐसा समुचित मामला है जिसमें उच्च न्यायालय को संहिता की धारा 195 के अधीन अधिकारिता का प्रयोग करना चाहिए था । प्रत्यर्थी के विरुद्ध परिवादी द्वारा किया गया अभिकथन असाधारण नहीं है । जैसाकि एक भिन्न संदर्भ में इस न्यायालय द्वारा पहले ही मत व्यक्त किया गया है अर्थात् "विधि का ऐसा कोई नियम नहीं है जिसके अनुसार व्यावहारिक ज्ञान को एक तरफ रख दिया जाए"[1] । हमारा संविधान रोक और नियंत्रण के सिद्धांत पर रचा गया है । एक ऐसा सिद्धांत जो इस विश्वास का उत्पाद बन चुका है कि शक्ति का दुरुपयोग ही किया जाता है, ऐसा विश्वास अनुभव पर आधारित है ।

29. अतः अपील मंजूर की जाती है । यह मामला विधि के अनुसरण में अपीलार्थी के परिवाद के आधार पर प्रत्यर्थी के विरुद्ध कार्यवाहियां आरंभ करने के संबंध में पुनः समुचित कार्यवाही किए जाने के लिए उच्च न्यायालय को भेजा जाता है ।

जैसाकि अपीलार्थियों के विद्वान् काउंसेल द्वारा दलील दी गई है, ऐसी कूटरचना या कूटरचित दस्तावेज से आहत उपचारातीत हो जाता है । ऐसा निर्वचन जिसके आधार पर किसी अपराध का आहत व्यक्ति उपचारातीत हो जाए त्यक्त किया जाना चाहिए ।

25. धारा 195(1)(ख)(ii) के विस्तृत निर्वचन का अत्यधिक दुरुपयोग किया जाता है जिसके अनुसार उक्त उपबंध द्वारा सृजित वर्जन ऐसे मामलों में लागू होगा जहां किसी दस्तावेज की कूटरचना करने के पश्चात् वह दस्तावेज न्यायालय में प्रस्तुत किया जाता है । जैसाकि **सचिदा नंद सिंह** वाले मामले में मत व्यक्त किया गया है, कूटरचित दस्तावेज तैयार करने के पश्चात्, कोई व्यक्ति स्वयं द्वारा या अपने द्वारा नियुक्त किए गए किसी व्यक्ति के माध्यम से सिविल, दांडिक या राजस्व कार्यवाहियां संस्थित करा सकता है और उक्त कार्यवाही में दस्तावेज फाइल कर सकता है । इस प्रकार उसे या तो प्राइवेट पक्षकार के या पुलिस के कहने पर अभियोजित किए जाने से संरक्षित किया जा सकता है जब तक कि वह न्यायालय जहां दस्तावेज फाइल किया गया है, स्वयं परिवाद फाइल न करे । ऐसी मुकदमेबाजी दीर्घकालीन हो सकती है जिसके कारण ऐसे व्यक्ति का वास्तविक आचरण अनिश्चित रूप से विलंबित हो सकता है । ऐसा निर्वचन संपूर्ण समाज के हित के लिए अत्यंत हानिकारक होगा ।

[1] **प्रकाश चंद्र मेहता** बनाम **आयुक्त और सचिव, केरल सरकार और अन्य** – 1985 (सप्ली.) एस. सी. सी. 144.

अपील मंजूर की गई ।

अस./अनू.

[2014] 2 उम. नि. प. 86

बिश्वनाथ भट्टाचार्य

बनाम

भारत संघ और अन्य

21 जनवरी, 2014

न्यायमूर्ति एच. एल. गोखले और न्यायमूर्ति जे. चेलामेश्वर

तस्कर और विदेशी मुद्रा छलसाधक (संपत्ति समपहरण) अधिनियम, 1976 (1976 का 13) – धारा 2(2), 3(ग), 6(1) और 7 – संपत्ति का समपहरण – आंतरिक सुरक्षा अधिनियम, 1971 और बाद में विदेशी मुद्रा संरक्षण और तस्करी निवारण अधिनियम, 1974 के अधीन निरोध के पश्चात् आय के स्त्रोत स्पष्ट करने के लिए सूचना – सूचना में उन कारणों को अंतर्विष्ट न करना जिनके आधार पर सक्षम प्राधिकारी को यह विश्वास हुआ कि अनुसूचीगत संपत्तियां अवैध रूप से अर्जित संपत्तियां हैं – सक्षम प्राधिकारी की संतुष्टि के संबंध में लेखबद्ध कारणों की बाद में तामील की जाना और व्यक्तिगत सुनवाई का अवसर भी दिया जाना – धारा 6 के अधीन जारी की गई सूचना को कारण न दिए जाने के कारण दूषित नहीं ठहराया जा सकता है क्योंकि ऐसे कारणों को संसूचित करने की कोई अभिव्यक्त कानूनी अपेक्षा नहीं है ।

तस्कर और विदेशी मुद्रा छलसाधक (संपत्ति समपहरण) अधिनियम, 1976 (1976 का 13) – धारा 2(2), 3(ग), 6(1) और 7 [सपठित संविधान, 1950 का अनुच्छेद 20] – संपत्ति का समपहरण – चूंकि संपत्ति का समपहरण अधिनियम में विनिर्दिष्ट ऐसे व्यक्तियों के संबंध में है जिन्होंने संपत्ति अवैध रूप से अर्जित की है और इस अधिनियम को संविधान की नवीं अनुसूची में शामिल किया गया है इसलिए इसे इस आधार पर आक्षेपित नहीं किया जा सकता है कि इससे संविधान के भाग 3 के अधीन प्रत्याभूत किसी अधिकार का अतिक्रमण होता है ।

प्रस्तुत मामले में अपीलार्थी को आरंभ में आंतरिक सुरक्षा अधिनियम, 1971 (अब निरसित) के उपबंधों के अधीन तारीख 19 दिसम्बर, 1974 के आदेश द्वारा और बाद में विदेशी मुद्रा संरक्षण और तस्करी निवारण अधिनियम, 1974 (जिसे इसमें इसके पश्चात् "कोफेपोसा" कहा गया है) के उपबंधों के अधीन इस आधार पर निरुद्ध किया गया था कि वह अपने भाई के सहयोग से, जो कि उस समय लंदन में रह रहा था, ऐसे

क्रियाकलापों में आलिप्त रहा था जो कि विदेशी मुद्रा संरक्षण पर प्रतिकूल प्रभाव डालने वाले थे । अपीलार्थी ने इस निरोध आदेश को असफलतापूर्वक चुनौती दी । उसे अंततः वर्ष 1977 में निर्मुक्त कर दिया गया था । जब वह अभिरक्षा में था तब द्वितीय प्रत्यर्थी ने तस्कर और विदेशी मुद्रा छलसाधक (संपत्ति समपहरण) अधिनियम, 1976 (जिसे इसमें इसके पश्चात् "अधिनियम" कहा गया है) की धारा 6(1) के अधीन तारीख 4 मार्च, 1977 को एक सूचना जारी की जिसके द्वारा अपीलार्थी से अपनी उस आय के स्त्रोतों को स्पष्ट करने की अपेक्षा की गई थी जिससे उसने सूचना की अनुसूची में वर्णित आस्तियां अर्जित की थीं । एक ओर द्वितीय प्रत्यर्थी और दूसरी ओर अपीलार्थी की पत्नी और अपीलार्थी के बीच कुछ पत्राचार हुआ जिनके ब्यौरे तत्समय के लिए आवश्यक न हों । अंततोगत्वा तारीख 27 नवम्बर, 1989 को द्वितीय प्रत्यर्थी ने अधिनियम की धारा 7(1) के अधीन एक आदेश पारित किया जिसके द्वारा उक्त आदेश की अनुसूची में उल्लिखित संपत्तियां समपहृत कर ली गई थीं । उक्त आदेश से व्यथित होकर अधिनियम की धारा 12 के अधीन गठित अपील अधिकरण के समक्ष एक अपील फाइल की गई । वह अपील भागतः मंजूर कर ली गई थी और संपत्तियों की दो मदों के समपहरण को अपास्त कर दिया गया था । अपीलार्थी ने अपील प्राधिकारी के निष्कर्ष से संतुष्ट न होते हुए उसे कलकत्ता उच्च न्यायालय के समक्ष चुनौती दी । उक्त रिट याचिका में, अपीलार्थी ने दो घोषणाओं के लिए भी प्रार्थना की – (1) यह कि अधिनियम अवैध और संविधान के अधिकारातीत है और (2) यह कि तारीख 19 दिसम्बर, 1974 के आदेश द्वारा कोफेपोसा के अधीन अपीलार्थी का निरोध अवैध और शून्य था – जो कि एक सांपार्श्विक और दूसरे दौर की चुनौती थी । उच्च न्यायालय के विद्वान् एकल न्यायाधीश ने यह अभिनिर्धारित करते हुए रिट याचिका भागतः मंजूर कर ली कि अपील अधिकरण द्वारा यथा-अभिपुष्ट द्वितीय प्रत्यर्थी द्वारा संपत्ति का समपहरण इस आधार पर अवैध था कि अधिनियम की धारा 6(1) के अधीन जारी की गई सूचना विधि के अनुसार नहीं थी क्योंकि उस सूचना में वे कारण अंतर्विष्ट नहीं थे जो सक्षम प्राधिकारी के इस विश्वास के लिए आधार गठित करते थे कि अपीलार्थी ने अनुसूचीगत संपत्तियां अवैध रूप से अर्जित की थीं । विद्वान् एकल न्यायाधीश के आदेश से व्यथित होकर प्रस्तुत प्रत्यर्थी मामले को खंड न्यायपीठ के समक्ष अपील में ले गए । अपीलाधीन निर्णय द्वारा अपील मंजूर की गई थी । इसके विरुद्ध उच्चतम न्यायालय में अपील फाइल की गई । उच्चतम न्यायालय के समक्ष तीन निवेदन किए – (1)

यह कि अधिनियम की धारा 6 के अधीन जारी की गई सूचना त्रुटिपूर्ण और इसलिए अवैध है क्योंकि सूचना में वे कारण अंतर्विष्ट नहीं थे जिनसे सक्षम प्राधिकारी ने यह विश्वास किया कि सूचना में अनुसूचीगत संपत्तियां अवैध रूप से अर्जित संपत्तियां हैं । दूसरे शब्दों में, वे कारण अपीलार्थी को संसूचित नहीं किए गए थे ; (2) यह कि समपहरण, जैसा कि अधिनियम के अधीन उपबंधित है, भारत के संविधान के अनुच्छेद 20 का अतिक्रमणकारी है ; और (3) अनुकल्पतः, यह दलील दी जाती है – कि उच्च न्यायालय इस प्रश्न पर विचार करने में असफल रहा कि क्या अपील प्राधिकारी द्वारा यथा-अभिपुष्ट सक्षम प्राधिकारी का विनिश्चय कायम रखे जाने योग्य है और इसलिए मामला उच्च न्यायालय के पास समपहरण के आदेश की वैधता पर समुचित विचार करने के लिए प्रतिप्रेषित किया जाना अपेक्षित है । उच्चतम न्यायालय द्वारा अपीलें खारिज करते हुए,

अभिनिर्धारित – अभिलेख से यह प्रतीत होता है कि आरंभ में तस्कर और विदेशी मुद्रा छलसाधक (संपत्ति समपहरण) अधिनियम, 1976 धारा 6(1) के अधीन तारीख 4 मार्च, 1977 की सूचना उस समय जारी की गई थी जब अपीलार्थी निवारक निरोध के अधीन था । इसके पश्चात्, तारीख 1 जून, 1988 की एक संसूचना द्वारा अपीलार्थी को उस विश्वास के लिए, जिनके परिणामस्वरूप अधिनियम की धारा 6(1) के अधीन सूचना जारी की गई थी, अभिलिखित कारणों की तामील की गई थी । अपीलार्थी ने उक्त सूचना के संबंध में न केवल प्रत्युत्तर फाइल किया बल्कि धारा 7 के अधीन समपहरण आदेश पारित किए जाने से पूर्व उसे सुनवाई का अवसर भी दिया गया था । ऊपर उल्लिखित तथ्यों की पृष्ठभूमि में ही इस निवेदन पर विचार किया जाना है कि उच्च न्यायालय ने इस निष्कर्ष पर पहुंचने में गलती की कि धारा 6(1) के अधीन सूचना से पश्चात्वर्ती कार्यवाहियां दूषित नहीं हुई थीं । प्रथमतः, उन कारणों को संसूचित करने की कोई अभिव्यक्त कानूनी अपेक्षा नहीं है जिनके परिणामस्वरूप अधिनियम की धारा 6 के अधीन सूचना जारी की गई । द्वितीयतः, यद्यपि तारीख 4 मार्च, 1977 की सूचना के साथ आरंभ में कारण नहीं दिए गए थे तथापि, वे बाद में दिए गए थे जिससे अपीलार्थी को प्रत्यर्थियों के पक्षकथन का प्रभावी रूप से उत्तर देने के लिए समर्थ बनाया गया था । अपीलार्थी समुचित सामग्री प्रस्तुत करके प्रत्यर्थियों को प्रभावी रूप से यह विश्वास दिला सकता था कि धारा 6 के अधीन सूचना को अग्रसर करने के लिए आगे कदम उठाने की आवश्यकता है । इसके अलावा, समपहरण का आदेश एक अपीलीय आदेश

होता है जहां संपत्तियों को समपहृत करने के संबंध में धारा 7 के अधीन विनिश्चय की शुद्धता की परीक्षा की जा सकती है । (पैरा 13 और 19)

अधिनियम द्वारा भारत सरकार को ऐसे किसी व्यक्ति की, जिसे अधिनियम लागू किया गया है, अवैध रूप से अर्जित संपत्ति को समपहृत करने के लिए समर्थ बनाया गया है । धारा 2(2) के अधीन पांच प्रवर्गों के व्यक्ति आते हैं । खंड (क) – ऐसे व्यक्ति जो उसमें निर्दिष्ट विभिन्न अधिनियमितियों के अधीन दोषसिद्ध किए गए हैं ; खंड (ख) – ऐसे व्यक्ति जिनकी बाबत कोफेपोसा के अधीन निरोध आदेश किया गया है (कतिपय शर्तों/अपवादों के अधीन रहते हुए जिनके ब्यौरे हमारे प्रयोजन के लिए आवश्यक नहीं हैं); खंड (ग) ऐसे व्यक्ति, जो खंड (क) या खंड (ख) में निर्दिष्ट व्यक्तियों के नातेदार हैं । "नातेदार" अभिव्यक्ति को भी स्पष्टीकरण 2 में स्पष्ट किया गया है । खंड (घ) – खंड (क) या खंड (ख) में निर्दिष्ट व्यक्तियों का प्रत्येक सहयुक्त । पुनः "सहयुक्त" अभिव्यक्ति को उपधारा (2) के स्पष्टीकरण 3 के अधीन स्पष्ट किया गया है । खंड (ङ) – ऐसी संपत्ति के पश्चात्वर्ती धारक, जो किसी समय खंड (क) या खंड (ख) में निर्दिष्ट व्यक्तियों की थी । अधिनियम की भाषा और स्कीम से यह प्रतीत नहीं होता है कि अधिनियम का लागू होना ऐसे व्यक्तियों तक सीमित है जिन्हें या तो अधिनियम की धारा 2(2)(क) में विनिर्दिष्ट किसी भी कार्य के अधीन दोषसिद्ध किया गया है या प्रश्नगत अधिनियम के प्रारंभ के पश्चात् कोफेपोसा के अधीन निरुद्ध किया गया है । अधिनियम की धारा 7(3) में ऐसे व्यक्तियों की, जिन्हें अधिनियम लागू किया गया है, अवैध रूप से अर्जित संपत्ति को अधिनियम की धारा 6 और धारा 7 के अधीन अनुध्यात समुचित जांच के पश्चात् समपहृत करने का उपबंध है । दूसरे शब्दों में, अधिनियम में ऐसे व्यक्तियों की, जिन्हें अधिनियम लागू होता है, (अवैध रूप से अर्जित) संपत्ति के वंचन के लिए उपबंध किया गया है । जिस प्रश्न पर विचार करने की अपेक्षा की गई थी वह यह था कि क्या ऐसा वंचन धारा 2 के स्पष्टीकरण 4 के साथ-साथ, इस मामले की विनिर्दिष्ट तथ्यात्मक पृष्ठभूमि को ध्यान में रखते हुए भारत के संविधान के अनुच्छेद 20 से संगत है । इस प्रश्न का उत्तर इस बात पर निर्भर करता है कि क्या ऐसा वंचन अनुच्छेद 20 में आने वाली उक्त अभिव्यक्ति के अर्थान्तर्गत शास्ति है । (पैरा 20, 23 और 25)

यह सांविधानिक विधि का सुस्थापित सिद्धांत है कि प्रभुत्तासंपन्न विधायी निकाय भूतलक्षी प्रवर्तन से विधियां बना सकते हैं और ऐसी विधियां

बना सकते हैं जिनका प्रवर्तन विधि बनाने के पूर्व के तथ्यों या घटनाओं पर निर्भर करता है । तथापि, इस साधारण नियम से दांडिक विधि समान रूप से सुस्थापित एक अन्य सांविधानिक विधि के सिद्धांत के अधीन अपवर्जित है, अर्थात्, दांडिक विधि के संबंध में भूतलक्षी प्रभाव से कोई विधान अनुज्ञेय नहीं होता है । अनुच्छेद 20 में संविधान के अधीन कार्य करने वाले प्रभुत्तासंपन्न विधान-मंडल के भूतलक्षी या पूर्वप्रभावी विधियां बनाने संबंधी साधारण प्राधिकार का ऐसा अपवाद अंतर्विष्ट है । (पैरा 27)

अधिनियम के अधीन अनुध्यात समपहरण की सही प्रकृति को समझने के लिए उस संपत्ति की प्रकृति की, जिसे समपहृत करने की ईप्सा की गई है, और उन व्यक्तियों की भी, जिनसे ऐसा समपहरण करने की ईप्सा की गई है, परीक्षा करना आवश्यक है । अधिनियम की धारा 2 के अधीन विनिर्दिष्ट पांच वर्गों के व्यक्तियों को लागू किया गया था । दूसरे शब्दों में, केवल उक्त पांच प्रवर्गों में से किसी एक प्रवर्ग के व्यक्तियों की संपत्तियों का अधिनियम के अधीन समपहरण किया जा सकता है । ऊपर उल्लिखित पांच प्रवर्गों में से किसी प्रवर्ग के अंतर्गत आने वाले किसी व्यक्ति द्वारा धारित संपत्तियों के संबंध में भी, उनकी संपूर्ण संपत्ति समपहृत नहीं की जा सकती है सिवाय उस संपत्ति के जो कि अधिनियम की धारा 3(ग) के अधीन यथा-परिभाषित अवैध रूप से अर्जित संपत्ति के रूप में अवधारित की जाती है । उन सभी पांच प्रवर्गों के व्यक्तियों में से, जिन्हें यह अधिनियम लागू होता है, धारा 2(2)(क) के अधीन विनिर्दिष्ट एक प्रवर्ग ही ऐसे व्यक्तियों का प्रवर्ग है जिन्हें अधिनियमितियों में से एक अधिनियमिति के अधीन उसमें उल्लिखित अपराध के लिए दोषी पाया गया है और दोषसिद्ध किया गया है । अन्य चार प्रवर्गों के व्यक्ति, जिन्हें अधिनियम लागू होता है, ऐसे व्यक्ति हैं जिनका किसी विधि के अधीन किसी अपराध या दोषसिद्धि से कोई संबंध नहीं है जबकि धारा 2(2)(ख) के अंतर्गत आने वाले प्रवर्ग के व्यक्ति ऐसे व्यक्ति हैं जिनके बारे में राज्य का यह विश्वास है कि वे विधि का अतिक्रमण करने वाले हैं । अन्य तीन प्रवर्गों के व्यक्ति साधारणतया ऐसे व्यक्ति हैं जो धारा 2(2)(क) और (ख) में उल्लिखित दो प्रवर्गों में से किसी एक प्रवर्ग से सहबद्ध हैं । कम से कम धारा 2(2)(क) के अंतर्गत आने वाले प्रवर्ग से भिन्न चार प्रवर्गों के प्रति निर्देश से संपत्ति का समपहरण/वंचन किसी अपराध के लिए दोषसिद्धि के परिणामस्वरूप नहीं है । (पैरा 39)

अतः, इन चार प्रवर्गों के संबंध में अनुच्छेद के अतिक्रमण का प्रश्न उद्भूत नहीं होता है । जहां तक ऊपर उल्लिखित प्रथम प्रवर्ग का संबंध है,

अनुच्छेद 20 इस कारण लागू नहीं होगा कि दोषसिद्धि ही केवल ऐसा कारक है जिसके द्वारा संसद् ऐसे व्यक्तियों की पहचान करती है जिन्हें अधिनियम लागू किया जाना है । अधिनियम में धारा 2(2)(क) के अंतर्गत आने वाले सभी दोषसिद्ध व्यक्तियों या धारा 2(2)(ख) के अंतर्गत आने वाले निरुद्ध व्यक्तियों की संपत्तियों के अधिहरण के लिए उपबंध नहीं है । अधिनियम की धारा 6 सक्षम प्राधिकारी को समपहरण की कार्यवाहियां संस्थित करने के लिए केवल तभी प्राधिकृत करती है यदि उसके पास यह विश्वास करने के कारण हों (विश्वास के ऐसे कारण लिखित में लेखबद्ध किए जाने आवश्यक हैं) कि उन व्यक्तियों की, जिन्हें अधिनियम लागू होता है, सभी या कुछ संपत्तियां अवैध रूप से अर्जित संपत्तियां हैं । धारा 2 के अधीन अनुध्यात दोषसिद्धि या निवारक निरोध अधिहरण का आधार या कारण नहीं है किन्तु यह राज्य को इस बात की परीक्षा करने के लिए कि क्या ऐसे व्यक्तियों द्वारा धारित संपत्तियां अवैध रूप से अर्जित संपत्तियां हैं, कार्यवाहियां संस्थित करने में समर्थ बनाने हेतु खंडनीय उपधारणा के लिए तथ्यात्मक आधार है । यह विख्यात है कि धन कमाने के लिए तस्करी जैसे क्रियाकलाप करने वाले व्यक्ति अपनी गतिविधि बहुत प्रच्छन्न रखते हैं । प्रत्यक्ष सबूत, यदि असंभव नहीं तो कठिन अवश्य होता है । उनके क्रियाकलाप की प्रकृति और इससे समाज को पहुंचने वाली अपहानि विधान-मंडल को ऐसी धारणा बनाने के लिए पर्याप्त रूप से तर्कसंगत आधार प्रदान करती है । विशेष रूप से, धारा 6 में विनिर्दिष्ट रूप से वे पैरामीटर अनुबंधित हैं जिनसे सक्षम प्राधिकारी को एक राय बनाने में मार्गदर्शन मिलना चाहिए, वे ये हैं ; उस व्यक्ति की, जिसके विरुद्ध कार्यवाही करने की ईप्सा की गई है, संपत्ति का मूल्य और उसकी आय, उपार्जनों इत्यादि के ज्ञात स्रोत । जांच उन आस्तियों तक सीमित होती है जिसके बारे में सक्षम प्राधिकारी को प्रारंभ में यह विश्वास होता है कि वे धारक की आय के ज्ञात और विधिसम्मत स्रोतों को ध्यान में रखते हुए उसकी वित्तीय सक्षमता से परे हैं । इसका दोषसिद्धि से बहुत कम संबंध होता है और इसलिए हमारी राय में इसे भारत के संविधान के अनुच्छेद 20 में अंतर्विष्ट प्रतिषेध लागू नहीं होगा । यदि कोई नागरिक ऐसे साधनों से संपत्ति अर्जित करता है जो वैध रूप से अनुमोदित नहीं है तो राज्य द्वारा ऐसे व्यक्तियों को इस प्रकार पाप से कमाए गए धन का उपभोग करने से वंचित करना न्यायोचित है । यह सुनिश्चित करना एक लोक हित है कि वे व्यक्ति, जो यह साबित नहीं कर सकते हैं कि उनके पास उनके द्वारा धारित आस्तियों को अर्जित करने के विधिसम्मत स्रोत हैं, ऐसे धन का उपभोग न करें ।

हमारी राय में, ऐसा वंचन निश्चित रूप से संविधान के अनुच्छेद 300-क और अनुच्छेद 14 की अपेक्षा से संगत होगा जो राज्य को किसी नागरिक को उसकी संपत्ति से मनमाने रूप से वंचित करने से निवारित करते हैं । इन समस्त कारणों से अधिनियम द्वारा संविधान के अनुच्छेद 20 का अतिक्रमण नहीं होता है । अन्यथा भी, अधिनियम को नवीं अनुसूची में शामिल किए जाने के कारण वह इस आधार पर चुनौती दिए जाने से उन्मुक्त है कि इससे अनुच्छेद 31-ख के अधीन घोषणा के आधार पर संविधान के भाग 3 के अधीन गारंटीकृत किन्हीं अधिकारों का अतिक्रमण होता है । (पैरा 40, 41 और 45)

रिट याचिका में, इस निर्णय में इससे पूर्ण चर्चा किए गए दो विधिक आधारों पर समपहरण के आदेश को चुनौती देने के सिवाय ऐसा कोई आधार नहीं है जिस पर समपहरण के आदेश की शुद्धता को चुनौती दी गई हो । इस अपील में प्रथम बार यह तर्क देने का प्रयास किया गया है कि सक्षम प्राधिकारी द्वारा निकाले गए ये निष्कर्ष कि समपहृत संपत्तियां अवैध रूप से अर्जित की गई हैं – अपीलार्थी की प्रतिरक्षा का समुचित अधिमूल्यन करने पर न्यायोचित नहीं है । दूसरे शब्दों में, अपीलार्थी ने रिट याचिका में कोई समुचित अभिवाक् किए बिना भी साक्ष्य के पुनर्मूल्यांकन की ईप्सा की है । यह अलग बात है कि उच्च न्यायालय अपनी रिट अधिकारिता का प्रयोग करते हुए सामान्यतः साक्ष्य का पुनर्मूल्यांकन नहीं करता है । किसी भी दृष्टिकोण से मामला उच्च न्यायालय को प्रतिप्रेषित करने का कोई कारण प्रतीत नहीं होता है । (पैरा 47)

निर्दिष्ट निर्णय

		पैरा
[1994]	(1994) 5 एस. सी. सी. 54 : **भारत के महान्यायवादी और अन्य** बनाम **अमृतलाल प्रजीवनदास और अन्य** ;	31
[1978]	[1978] 3 उम. नि. प. 1063 = (1977) 4 एस. सी. सी. 98 : **आर. एस. जोशी, विक्रय-कर अधिकारी, गुजरात और अन्य** बनाम **अजीत मिल्स लिमिटेड, अहमदाबाद और एक अन्य** ;	30,31,36,38

[1976] [1976] 4 उम. नि. प. 297 =
(1976) 1 एस. सी. सी. 1001 :
अजन्ता इंडस्ट्रीज़ और अन्य बनाम **केन्द्रीय प्रत्यक्ष कर बोर्ड, नई दिल्ली और अन्य** ; 14, 18, 19

[1973] [1973] 2 उम. नि. प. 159 =
(1973) 4 एस. सी. सी. 225 :
महामहिम केशवानन्द भारती श्रीपदगलवरु बनाम **केरल राज्य और एक अन्य** ; 33

[1967] ए. आई. आर. 1967 एस. सी. 523 :
एस. नारायणप्पा बनाम **आय-कर आयुक्त** ; 17, 18, 19

[1964] ए. आई. आर. 1964 एस. सी. 922 :
आर. अब्दुल कादर और अन्य बनाम **विक्रय-कर अधिकारी** ; 37

[1963] ए. आई. आर. 1963 एस. सी. 255 :
पश्चिमी बंगाल राज्य बनाम **एस. के. घोष** ; 31, 35

[1948] (1948) 2 आल इंग्लैंड ला रिपोर्ट्स 995 :
बिडी बनाम **जनरल एक्सीडेंट, फायर एंड लाइफ एश्योरेंस कारपोरेशन** । 32

अपीली (सिविल) अधिकारिता : 2014 की सिविल अपील सं. 772-773.

2003 की एफ. एम. ए. सं. 206 और 2007 की आर. वी. डब्ल्यू. सं. 2372 में कलकत्ता उच्च न्यायालय के तारीख 9 अगस्त, 2007 और तारीख 30 अगस्त, 2007 के निर्णय और आदेश के विरुद्ध अपीलें ।

अपीलार्थी की ओर से सर्वश्री सी. ए. सुन्दरम्, ज्येष्ठ अधिवक्ता, पुनीत जैन और (सुश्री) क्रिस्टी जैन (सुश्री प्रतिभा जैन की ओर से)

प्रत्यर्थियों की ओर से सर्वश्री ए. एस. चंडिहोक, अपर महासालिसिटर, (सुश्री) रश्मि मल्होत्रा, ऋतेश कुमार, विदित गुप्ता, (सुश्री) हरलीन सिंह, विष्णु कांत, गुरप्रीत एस. परवन्दा, हयंक बामनियाल, (सुश्री) तनुश्री

सिन्हा और अनिल कटियार (बी. वी. बलराम दास की ओर से)

न्यायालय का निर्णय न्यायमूर्ति जे. चेलामेश्वर ने दिया ।

न्या. चेलामेश्वर – इजाजत दी जाती है ।

2. ये दो अपीलें कलकत्ता उच्च न्यायालय द्वारा 2003 की एफ. एम. ए. सं. 206 में पारित तारीख 9 अगस्त, 2007 के अंतिम निर्णय और प्रस्तुत मामले में अपीलार्थी द्वारा फाइल किए गए उक्त पुनर्विलोकन आवेदन को खारिज करते हुए 2007 के पुनर्विलोकन आवेदन सं. आर. वी. डब्ल्यू. सं. 2372 में तारीख 30 अगस्त, 2007 के आदेश के विरुद्ध फाइल की गई हैं ।

3. वर्तमान मुकदमेबाजी को उद्‌भूत करने वाले तथ्य इस प्रकार हैं ।

4. अपीलार्थी को आरंभ में आंतरिक सुरक्षा अधिनियम, 1971 (अब निरसित) के उपबंधों के अधीन तारीख 19 दिसम्बर, 1974 के आदेश द्वारा और बाद में विदेशी मुद्रा संरक्षण और तस्करी निवारण अधिनियम, 1974 (जिसे इसमें इसके पश्चात् "कोफेपोसा" कहा गया है) के उपबंधों के अधीन इस आधार पर निरुद्ध किया गया था कि वह अपने भाई के सहयोग से, जो कि उस समय लंदन में रह रहा था, ऐसे क्रियाकलापों में आलिप्त रहा था जो कि विदेशी मुद्रा संरक्षण पर प्रतिकूल प्रभाव डालने वाले थे । अपीलार्थी ने इस निरोध आदेश को असफलतापूर्वक चुनौती दी । उसे अंततः वर्ष 1977 में निर्मुक्त कर दिया गया था ।

5. जब वह अभिरक्षा में था तब द्वितीय प्रत्यर्थी ने तस्कर और विदेशी मुद्रा छलसाधक (संपत्ति समपहरण) अधिनियम, 1976 (जिसे इसमें इसके पश्चात् "अधिनियम" कहा गया है) की धारा 6(1) के अधीन तारीख 4 मार्च, 1977 को एक सूचना जारी की जिसके द्वारा अपीलार्थी से अपनी उस आय के स्रोतों को स्पष्ट करने की अपेक्षा की गई थी जिससे उसने सूचना की अनुसूची में वर्णित आस्तियां अर्जित की थीं । एक ओर द्वितीय प्रत्यर्थी और दूसरी ओर अपीलार्थी की पत्नी और अपीलार्थी के बीच कुछ पत्राचार हुआ जिनके ब्यौरे तत्समय के लिए आवश्यक न हों ।

6. अंततोगत्वा तारीख 27 नवम्बर, 1989 को द्वितीय प्रत्यर्थी ने अधिनियम की धारा 7(1) के अधीन एक आदेश पारित किया जिसके द्वारा उक्त आदेश की अनुसूची में उल्लिखित संपत्तियां समपहृत कर ली गई थीं ।

7. उक्त आदेश से व्यथित होकर अधिनियम की धारा 12 के अधीन गठित अपील अधिकरण के समक्ष एक अपील फाइल की गई । वह अपील भागतः मंजूर कर ली गई थी और संपत्तियों की दो मदों के समपहरण को अपास्त कर दिया गया था ।

8. अपीलार्थी ने अपील प्राधिकारी के निष्कर्ष से संतुष्ट न होते हुए उसे कलकत्ता उच्च न्यायालय के समक्ष 1991 के सी. ओ. सं. 10543 (डब्ल्यू.) में चुनौती दी । उक्त रिट याचिका में, अपीलार्थी ने दो घोषणाओं के लिए भी प्रार्थना की – (1) यह कि अधिनियम अवैध और संविधान के अधिकारातीत है और (2) यह कि तारीख 19 दिसम्बर, 1974 के आदेश द्वारा कोफेपोसा के अधीन अपीलार्थी का निरोध अवैध और शून्य था – जो कि एक सांपार्श्विक और दूसरे दौर की चुनौती थी ।

9. कलकत्ता उच्च न्यायालय के विद्वान् एकल न्यायाधीश ने तारीख 10 मई, 2002 के आदेश द्वारा यह अभिनिर्धारित करते हुए रिट याचिका भागतः मंजूर कर ली कि अपील अधिकरण द्वारा यथा-अभिपुष्ट द्वितीय प्रत्यर्थी द्वारा संपत्ति का समपहरण इस आधार पर अवैध था कि अधिनियम की धारा 6(1) के अधीन तारीख 4 मार्च, 1977 की सूचना विधि के अनुसार नहीं थी क्योंकि उस सूचना में वे कारण अंतर्विष्ट नहीं थे जो सक्षम प्राधिकारी के इस विश्वास के लिए आधार गठित करते थे कि अपीलार्थी ने अनुसूचीगत संपत्तियां अवैध रूप से अर्जित की थीं ।

10. विद्वान् एकल न्यायाधीश के आदेश से व्यथित होकर प्रस्तुत प्रत्यर्थी मामले को खंड न्यायपीठ के समक्ष अपील में ले गए । अपीलाधीन निर्णय द्वारा अपील मंजूर की गई थी ।

11. अपीलाधीन निर्णय से यह प्रतीत होता है कि यद्यपि अपीलार्थी ने इस घोषणा की ईप्सा की थी कि अधिनियम असांविधानिक है तथापि, ऐसे अभिवाक् पर विद्वान् एकल न्यायाधीश के समक्ष जोर नहीं दिया गया था । अपीलाधीन निर्णय में यह कहा गया है : –

> "विद्वान् एकल न्यायाधीश के निर्णय और आदेश के परिशीलन से यह प्रतीत होता है कि यद्यपि उक्त अधिनियम की शक्तिमत्ता को चुनौती दी गई थी तथापि, प्रत्यर्थी सं. 1 ने कोफेपोसा की धारा 3 के अधीन जारी किए गए निरोध आदेश और सक्षम प्राधिकारी द्वारा, जो कि तस्कर और विदेशी मुद्रा छलसाधक (संपत्ति समपहरण) अधिनियम की धारा 6(1) के अधीन अपील प्राधिकारी में इस प्रकार विलयित की

गई थी, पारित आदेशों को रद्द करने के लिए ही कहा तथा अपील प्राधिकारी द्वारा इसमें आक्षेपित आदेश के निबंधनानुसार समपहृत संपत्तियों को निर्मोचित करने की भी प्रार्थना की थी ।"

12. अपीलार्थी ने हमारे समक्ष तीन निवेदन किए – (1) यह कि अधिनियम की धारा 6 के अधीन जारी की गई सूचना त्रुटिपूर्ण और इसलिए अवैध है क्योंकि सूचना में वे कारण अंतर्विष्ट नहीं थे जिनसे सक्षम प्राधिकारी ने यह विश्वास किया कि सूचना में अनुसूचीगत संपत्तियां अवैध रूप से अर्जित संपत्तियां हैं । दूसरे शब्दों में, वे कारण अपीलार्थी को संसूचित नहीं किए गए थे; (2) यह कि समपहरण, जैसा कि अधिनियम के अधीन उपबंधित है, भारत के संविधान के अनुच्छेद 20 का अतिक्रमणकारी है; और (3) अनुकल्पतः, यह दलील दी जाती है – कि उच्च न्यायालय इस प्रश्न पर विचार करने में असफल रहा कि क्या अपील प्राधिकारी द्वारा यथा-अभिपुष्ट सक्षम प्राधिकारी का विनिश्चय कायम रखे जाने योग्य है और इसलिए मामला उच्च न्यायालय के पास समपहरण के आदेश की वैधता पर समुचित विचार करने के लिए प्रतिप्रेषित किया जाना अपेक्षित है ।

13. अपीलाधीन निर्णय में कारणों के संसूचित न किए जाने के संबंध में निम्न प्रकार अभिलिखित किया गया है : –

> "इस मामले की परीक्षा एक अन्य दृष्टिकोण से की जा सकती है । वर्ष 1976 में वह निरोधाधीन था । उसकी पत्नी ने कारण न दिए जाने की शिकायत किए बिना उक्त सूचना का उत्तर दिया था । प्रत्यर्थी सं. 1 ने अपनी निर्मुक्ति के पश्चात् एक और प्रत्युत्तर दिया जिसमें उन बातों को अंगीकार किया गया जो उसकी पत्नी द्वारा कही गई थीं । प्राधिकारी ने उसके विरुद्ध तब तक कार्यवाही नहीं की जब तक उसे वर्ष 1988 में तर्कणा की तामील नहीं की गई थी । प्रत्यर्थी सं. 1 को अपने प्रत्युत्तर में तर्कणा पर कार्यवाही करने का अवसर प्रदान किया गया था । सक्षम प्राधिकारी ने उसे सुनवाई का अवसर प्रदान करने के पश्चात् एक विस्तृत सकारण आदेश पारित किया । उसने एक अपील फाइल की । वह अपील भागतः और वह भी एक विस्तृत सकारण आदेश द्वारा मंजूर की गई थी । अतः, हम यह अभिनिर्धारित करने के लिए कोई कारण नहीं पाते हैं कि प्रत्यर्थी सं. 1 के मूल अधिकार का अतिलंघन किया गया था ।"

अभिलेख से यह प्रतीत होता है कि आरंभ में धारा 6(1) के अधीन तारीख

4 मार्च, 1977 की सूचना उस समय जारी की गई थी जब अपीलार्थी निवारक निरोध के अधीन था । इसके पश्चात्, तारीख 1 जून, 1988 की एक संसूचना द्वारा अपीलार्थी को उस विश्वास के लिए, जिनके परिणामस्वरूप अधिनियम की धारा 6(1) के अधीन सूचना जारी की गई थी, अभिलिखित कारणों की तामील की गई थी । अपीलार्थी ने उक्त सूचना के संबंध में न केवल प्रत्युत्तर फाइल किया बल्कि धारा 7 के अधीन समपहरण आदेश पारित किए जाने से पूर्व उसे सुनवाई का अवसर भी दिया गया था । ऊपर उल्लिखित तथ्यों की पृष्ठभूमि में ही हमें इस निवेदन पर विचार करना है कि उच्च न्यायालय ने इस निष्कर्ष पर पहुंचने में गलती की कि धारा 6(1) के अधीन सूचना से पश्चात्वर्ती कार्यवाहियां दूषित नहीं हुई थीं । उच्च न्यायालय ने इस प्रकार मत व्यक्त किया :–

> "प्रत्यर्थी सं. 1 ने प्रथम बार रिट याचिका में यह दलील दी कि धारा 6(1) के अधीन सूचना कारण न दिए जाने के कारण दूषित थी जबकि यह प्रतीत होगा कि कारण तब प्रदत्त कर दिए गए थे जब भी कहा गया था । हमारी राय में, कारण विलंब से देने से सक्षम प्राधिकारी तथा अपील प्राधिकारी के पश्चात्वर्ती आदेश दूषित नहीं हो गए थे । कारण बताओ सूचना वर्ष 1976 में तामील की गई थी । इस पर वर्ष 1988 तक कोई कार्यवाही नहीं की गई थी जब कारण प्रदत्त किए गए थे । सक्षम प्राधिकारी द्वारा सुनवाई का पर्याप्त अवसर प्रदान किए जाने के पश्चात् आदेश पारित किया गया था । प्रत्यर्थी सं. 1 ने अपील के उपचार का लाभ उठाया था जहां उसकी अपील भागतः मंजूर कर ली गई थी । विद्वान् एकल न्यायाधीश के प्रति अपना गहरा सम्मान व्यक्त करते हुए हम यह अभिनिर्धारित करते हैं कि संभवतः माननीय न्यायाधीश का उस प्रक्रम पर कारण बताओ सूचना में हस्तक्षेप करना सही नहीं था जब प्रत्यर्थी सं. 1 ने विधि की दृष्टि से उपचारों का उपभोग कर लिया था और वह अपील प्राधिकारी के समक्ष भागतः सफल हो गया था ।"

14. इस निवेदन के समर्थन में अपीलार्थी के विद्वान् काउन्सेल ने **अजन्ता इंडस्ट्रीज़ और अन्य** बनाम **केन्द्रीय प्रत्यक्ष कर बोर्ड, नई दिल्ली और अन्य**[1] वाले मामले में इस न्यायालय के निर्णय का जोरदार अवलंब लिया । यह एक ऐसा मामला था जिसमें इस न्यायालय को **अजन्ता**

---

[1] [1976] 4 उम. नि. प. 297 = (1976) 1 एस. सी. सी. 1001.

इंडस्ट्रीज़ (उपरोक्त) वाले "मामले" को अंतरित करने वाले धारा 127 के अधीन पारित आदेश की वैधता पर विचार करना था ।

15. आय-कर अधिनियम, 1961 की धारा 127 (उसमें उल्लिखित) प्राधिकारियों को (उक्त धारा में स्पष्टीकृत) "किसी मामले" को एक आय-कर अधिकारी से किसी अन्य अधिकारी को अंतरित करने की शक्ति प्रदान करती है । इसके अलावा, इस धारा में यह अनुबंधित है कि अंतरण संबंधी ऐसा कोई आदेश किए जाने से पूर्व दो शर्तों का अनुपालन किया जाना आवश्यक है – (1) यह कि निर्धारिती को इस संबंध में युक्तियुक्त अवसर अवश्य दिया जाना चाहिए कि उसका मामला अंतरित क्यों नहीं किया जाना चाहिए ; और (2) मामले को अंतरित करने वाले प्राधिकारी से उन कारणों को लेखबद्ध करना अपेक्षित है जिनके परिणामस्वरूप उसने कार्यवाहियां आरंभ कीं । इस निर्णय से यह प्रतीत होता है कि यद्यपि ऊपर उल्लिखित दो अपेक्षाओं में से प्रथम अपेक्षा का अनुपालन किया गया था, तथापि, यह पाया गया था कि कारणों का संसूचित किया जाना तो दूर उन्हें लेखबद्ध भी नहीं किया गया था । इस न्यायालय ने ऐसे आदेश की वैधता पर विचार करते हुए यह अभिनिर्धारित किया कि मामले को अंतरित करने संबंधी विनिश्चय के लिए न केवल कारण लेखबद्ध करने की अपेक्षा है बल्कि ऐसे कारण निर्धारिती को संसूचित किए जाने भी आवश्यक हैं ।

16. यद्यपि धारा 127 में कारणों को लेखबद्ध करने के लिए अभिव्यक्त रूप से उपबंध किया गया है तथापि, उन्हें निर्धारिती को संसूचित करने के संबंध में अभिव्यक्त रूप से उपबंध नहीं किया गया था । फिर भी, इस न्यायालय ने निम्नलिखित शब्दों में यह अभिनिर्धारित किया कि ऐसी संसूचना आज्ञापक है :–

> "10. आदेशों में कारणों के अभिलिखित किए जाने और इन कारणों के निर्धारिती को बताए जाने का कारण यह है कि उससे निर्धारिती को यह अवसर मिल सके कि वह संविधान के अनुच्छेद 226 के अधीन उच्च न्यायालय की रिट अधिकारिता अथवा संविधान के अनुच्छेद 136 के अधीन इस न्यायालय की अधिकारिता का आश्रय समुचित मामले में ले सके जिससे कि अन्य बातों के साथ-साथ आदेश पर या तो इस आधार पर आक्षेप किया जा सके कि वह असद्भावपूर्वक अथवा मनमाना है अथवा वह विसंगत और बाह्य विचार्य-विषयों पर आधारित है । यह बात इस प्रश्न के विनिश्चय के लिए सुसंगत नहीं है कि क्या ऐसा रिट अथवा विशेष इजाजत द्वारा

फाइल किया गया ऐसा आवेदन अन्त में असफल हो जाता है ।

11. हमारी यह स्पष्ट राय है कि धारा 127(1) के अधीन कारण अभिलिखित करने की अपेक्षा विधि के अधीन एक आज्ञापक निदेश है और यदि उसकी सूचना नहीं दी जाती है तो यह दर्शित करके उसकी व्यावृत्ति नहीं की जा सकती है कि फाइल में कारण विद्यमान थे हालांकि उनकी सूचना निर्धारिती को नहीं दी गई थी ।'

17. हमारी राय में, ऐसे किसी निष्कर्ष को न्यायालय की इस मताभिव्यक्ति के प्रकाश में समझा जाना चाहिए कि आय-कर अधिनियम के अधीन अंतरण के आदेश के विरुद्ध अपील या पुनरीक्षण का कोई उपबंध नहीं था । इसी कारणवश, इस न्यायालय ने **एस. नारायणप्पा** बनाम **आय-कर आयुक्त**[1] वाले पूर्ववर्ती निर्णय से प्रभेद किया और उसका अनुसरण करने से इनकार कर दिया जहां इस न्यायालय ने इंडियन इन्कम टैक्स ऐक्ट, 1922 की धारा 34 का निर्वचन करने पर इसके विपरीत राय व्यक्त की थी । धारा 34 में आयुक्त की पूर्व मंजूरी से निर्धारण को पुनः खोलने का उपबंध था यदि आय-कर अधिकारी के पास यह विश्वास करने के कारण हैं कि कराधेय आय का निर्धारण कम किया गया था । इस प्रश्न पर विचार करते हुए कि क्या वे कारण, जिनके परिणामस्वरूप आयुक्त ने धारा 34 के अधीन कार्यवाहियां संस्थित करने के लिए मंजूरी प्रदान की थी, निर्धारिती को संसूचित किए जाने आवश्यक हैं, इस न्यायालय ने निम्न प्रकार अभिनिर्धारित किया :–

"अधिनियम के किसी भी उपबंध या किसी धारा में कार्यवाहियों के संस्थित किए जाने के लिए शर्त के रूप में अधिकथित करने वाली ऐसी कोई अपेक्षा नहीं है कि वे कारण निर्धारिती को अवश्य ही संसूचित किए जाने चाहिए जिनसे आयुक्त धारा 34 के अधीन कार्यवाही करने की मंजूरी प्रदान करने के लिए प्रेरित हुआ ।'

18. **अजन्ता इंडस्ट्रीज़** (उपर्युक्त) वाले मामले में **नारायणप्पा** (उपर्युक्त) वाले मामले से इस आधार पर प्रभेद किया गया :–

"जब धारा 34 के अधीन आदेश दिया जाता है तो व्यथित निर्धारिती अपील में निर्धारण आदेश के विरुद्ध मामले का विरोध कर सकता है, किन्तु जिस निर्धारिती के विरुद्ध अंतरण आदेश दिया गया

---

[1] ए. आई. आर. 1967 एस. सी. 523.

हो उसे अधिनियम के अधीन अंतरण आदेश का विरोध करने का ऐसा कोई उपचार प्राप्त नहीं है । इसके अलावा, व्यथित निर्धारिती धारा 34 के अधीन सूचना प्राप्त करने पर आय-कर अधिकारी का इस बारे में समाधान कर सकता है कि निर्धारण पर पुनः विचार करने के लिए कोई कारण नहीं था । ऐसा अवसर अधिनियम की धारा 127(1) के अधीन किसी निर्धारिती को उपलभ्य नहीं है । इसलिए उपर्युक्त विनिश्चय स्पष्ट रूप से प्रभेद करने योग्य है ।"

19. हम अपीलार्थी के निवेदन को निम्नलिखित कारणों से अस्वीकार करते हैं । प्रथमतः, उन कारणों को संसूचित करने की कोई अभिव्यक्त कानूनी अपेक्षा नहीं है जिनके परिणामस्वरूप अधिनियम की धारा 6 के अधीन सूचना जारी की गई । द्वितीयतः, यद्यपि तारीख 4 मार्च, 1977 की सूचना के साथ आरंभ में कारण नहीं दिए गए थे तथापि, वे बाद में दिए गए थे जिससे अपीलार्थी को प्रत्यर्थियों के पक्षकथन का प्रभावी रूप से उत्तर देने के लिए समर्थ बनाया गया था । तृतीयतः, हमारी यह राय है कि वर्तमान मामला भी **नारायणप्पा** (उपर्युक्त) वाले विनिश्चयाधार के अंतर्गत आता है । अपीलार्थी समुचित सामग्री प्रस्तुत करके प्रत्यर्थियों को प्रभावी रूप से यह विश्वास दिला सकता था कि धारा 6 के अधीन सूचना को अग्रसर करने के लिए आगे कदम उठाने की आवश्यकता है । इसके अलावा, समपहरण का आदेश एक अपीलीय आदेश होता है जहां संपत्तियों को समपहृत करने के संबंध में धारा 7 के अधीन विनिश्चय की शुद्धता की परीक्षा की जा सकती है । हमें **अजन्ता इंडस्ट्रीज़** (उपर्युक्त) वाले मामले के विनिश्चयाधार में ऐसी कोई बात दिखाई नहीं देती है जो यह सामान्य सिद्धांत अधिकथित करती हो कि जब कभी किसी कानून में कार्रवाई संस्थित करने से पूर्व कुछ कारण अभिलिखित करने की अपेक्षा की जाती है तब कारण आवश्यक रूप से संसूचित किए जाने चाहिएं ।

20. अब हम दूसरे निवेदन पर विचार करते हैं । अधिनियम द्वारा भारत सरकार को ऐसे किसी व्यक्ति की, जिसे अधिनियम लागू किया गया है, अवैध रूप से अर्जित संपत्ति को समपहृत करने के लिए समर्थ बनाया गया है । अधिनियम उसकी धारा 2(2) में विनिर्दिष्ट व्यक्तियों को लागू किया गया है । अधिनियम की धारा 2 इस प्रकार है :–

"धारा 2. **लागू होना** – (1) इस अधिनियम के उपबंध उपधारा (2) में विनिर्दिष्ट व्यक्तियों को ही लागू होंगे ।

(2) उपधारा (1) में निर्दिष्ट व्यक्ति निम्नलिखित हैं, अर्थात् –

(क) प्रत्येक व्यक्ति –

(i) जो सागर सीमा-शुल्क अधिनियम, 1878 (1878 का 8) या सीमा-शुल्क अधिनियम, 1962 (1962 का 52) के अधीन किसी ऐसे अपराध के लिए दोषसिद्ध किया गया है जिसका संबंध एक लाख रुपए से अधिक मूल्य के माल से है ; या

(ii) जो विदेशी मुद्रा विनियमन अधिनियम, 1947 (1947 का 7) या विदेशी मुद्रा विनियमन अधिनियम, 1973 (1973 का 46) के अधीन किसी ऐसे अपराध के लिए दोषसिद्ध किया गया है जो एक लाख रुपए से अधिक की रकम या मूल्य के संबंध में है ; या

(iii) जो सागर सीमा-शुल्क अधिनियम, 1878 (1878 का 8) या सीमा-शुल्क अधिनियम, 1962 (1962 का 52) के अधीन दोषसिद्ध किया गया है और तत्पश्चात् उन दोनों अधिनियमों में से किसी अधिनियम के अधीन दोषसिद्ध किया गया है ; या

(iv) जो विदेशी मुद्रा विनियमन अधिनियम, 1947 (1947 का 7) या विदेशी मुद्रा विनियमन अधिनियम, 1973 (1973 का 46) के अधीन दोषसिद्ध किया गया है और तत्पश्चात् उन दोनों अधिनियमों में से किसी अधिनियम के अधीन दोषसिद्ध किया गया है ;

(ख) प्रत्येक व्यक्ति जिसकी बाबत विदेशी मुद्रा संरक्षण और तस्करी निवारण अधिनियम, 1974 के अधीन निरोध-आदेश किया गया है :

परन्तु यह तब जब कि –

(i) वह निरोध-आदेश ऐसा आदेश है जिसको उक्त अधिनियम की धारा 9 या धारा 12क के उपबंध लागू नहीं होते हैं और जो उक्त अधिनियम की धारा 8 के अधीन सलाहकार बोर्ड की रिपोर्ट पर या सलाहकार बोर्ड की रिपोर्ट की प्राप्ति के पूर्व या सलाहकार बोर्ड को निर्देश

करने के पूर्व प्रतिसंहृत नहीं किया गया है ; या

(ii) वह निरोध-आदेश ऐसा आदेश है जिसको उक्त अधिनियम की धारा 9 के उपबंध लागू होते हैं और जो उक्त अधिनियम की धारा 9 की उपधारा (3) के अधीन पुनर्विलोकन के लिए समय की समाप्ति से पूर्व या उसके आधार पर, अथवा धारा 9 की उपधारा (2) के साथ पठित धारा 8 के अधीन सलाहकार बोर्ड की रिपोर्ट पर प्रतिसंहृत नहीं किया गया है ; या

(iii) वह निरोध-आदेश ऐसा आदेश है जिसको उक्त अधिनियम की धारा 12क के उपबंध लागू होते हैं ; और जो उस अधिनियम की उस धारा की उपधारा (3) के अधीन प्रथम पुनर्विलोकन के लिए समय की समाप्ति के पूर्व या उसके आधार पर, अथवा धारा 12क की उपधारा (6) के साथ पठित धारा 8 के अधीन सलाहकार बोर्ड की रिपोर्ट के आधार पर प्रतिसंहृत नहीं किया गया है ; या

(iv) वह निरोध-आदेश सक्षम अधिकारिता वाले किसी न्यायालय द्वारा अपास्त नहीं किया गया है ;

(ग) प्रत्येक व्यक्ति जो खंड (क) या खंड (ख) में निर्दिष्ट किसी व्यक्ति का नातेदार है ;

(घ) खंड (क) या खंड (ख) में निर्दिष्ट किसी व्यक्ति का प्रत्येक सहयुक्त ;

(ङ) किसी ऐसी संपत्ति का, जो खंड (क) या खंड (ख) में निर्दिष्ट किसी व्यक्ति द्वारा किसी पूर्व समय पर धारित थी, कोई धारक जिसे इसके पश्चात् इस खंड में वर्तमान धारक कहा गया है, उस दशा के सिवाय जबकि, यथास्थिति, वर्तमान धारक या कोई भी व्यक्ति, जो ऐसे व्यक्ति के पश्चात् और वर्तमान धारक के पूर्व ऐसी संपत्ति धारण किए हुए था, सद्भावपूर्ण पर्याप्त सप्रतिफल अंतरिती है या था ।

स्पष्टीकरण 1 – खंड (क) के उपखंड (i) के प्रयोजनों के लिए, किसी ऐसे माल का, जिसके संबंध में कोई व्यक्ति किसी अपराध के लिए दोषसिद्ध किया गया है, मूल्य उस अपराध के

किए जाने की तारीख को भारत में व्यापार के मामूली अनुक्रम में उस माल की थोक कीमत होगी ।

स्पष्टीकरण 2 – खंड (ग) के प्रयोजनों के लिए, किसी व्यक्ति के संबंध में 'नातेदार' से अभिप्रेत है –

(i) उस व्यक्ति का पति या पत्नी ;

(ii) उस व्यक्ति का भाई या बहिन ;

(iii) उस व्यक्ति के पति या पत्नी का भाई या बहिन ;

(iv) उस व्यक्ति का कोई पारम्परिक पूर्वपुरुष या वंशज ;

(v) उस व्यक्ति के पति या पत्नी का कोई पारम्परिक पूर्वपुरुष या वंशज ;

(vi) खंड (ii) खंड (iii), खंड (iv) या खंड (v) में निर्दिष्ट किसी व्यक्ति का पति या पत्नी ;

(vii) खंड (ii) या खंड (iii) में निर्दिष्ट किसी व्यक्ति का कोई पारम्परिक वंशज ।

स्पष्टीकरण 3 – खंड (घ) के प्रयोजनों के लिए, किसी व्यक्ति के संबंध में 'सहयुक्त' से अभिप्रेत है –

(i) कोई व्यष्टि जो ऐसे व्यक्ति के निवास परिसर में (जिसमें उपगृह भी सम्मिलित है) निवास कर रहा था या कर रहा है ;

(ii) कोई व्यष्टि जो ऐसे व्यक्ति के कामकाज का प्रबंध कर रहा था या कर रहा है अथवा उसके लेखे रख रहा था या रख रहा है ;

(iii) कोई व्यक्ति-संगम व्यष्टि-निकाय, भागीदारी फर्म या कंपनी अधिनियम, 1956 (1956 का 1) के अर्थ में कोई प्राइवेट कंपनी, जिसका ऐसा व्यक्ति सदस्य, भागीदार या निदेशक रहा था या है ;

(iv) कोई व्यष्टि, जो कंपनियों के अर्थान्तर्गत व्यक्ति-संगम, व्यष्टि-निकाय, भागीदारी फर्म या प्राइवेट कंपनी का किसी ऐसे समय पर सदस्य, भागीदार या निदेशक रहा था या

है, जब ऐसा व्यक्ति ऐसे संगम, निकाय, भागीदारी फर्म या प्राइवेट कंपनी का सदस्य, भागीदार या निदेशक रहा था या है ;

(v) कोई व्यक्ति, जो खंड (iii) में निर्दिष्ट व्यक्ति-संगम, व्यष्टि-निकाय, भागीदारी फर्म या प्राइवेट कंपनी के कामकाज का प्रबंध कर रहा था या कर रहा है अथवा उसके लेखे रख रहा था या रख रहा है ;

(vi) किसी न्यास का न्यासी, जब कि –

(क) ऐसा न्यास ऐसे व्यक्ति द्वारा सृष्ट किया गया है ; या

(ख) ऐसे व्यक्ति द्वारा न्यास को अभिदत्त आस्तियों का मूल्य (जिसके अंतर्गत उसके द्वारा पहले अभिदत्त आस्तियों का, यदि कोई हों, मूल्य भी है) उस तारीख को, जिसको अभिदाय किया जाता है, न्यास की आस्तियों के उस मूल्य के, जो उस तारीख को हो, बीस प्रतिशत से कम न हो ;

(vii) जहां सक्षम प्राधिकारी का, ऐसे कारणों से, जो लेखबद्ध किए जाएंगे, यह विचार है कि ऐसे व्यक्ति की किसी संपत्ति को उसकी ओर से कोई अन्य व्यक्ति धारण किए हुए हैं, वहां ऐसा अन्य व्यक्ति ।

स्पष्टीकरण 4 – शंकाएं दूर करने के लिए इसके द्वारा यह उपबंध किया जाता है कि इस प्रश्न का अवधारण कि क्या कोई व्यक्ति ऐसा व्यक्ति है जिसको इस अधिनियम के उपबंध लागू होते हैं, ऐसे तथ्यों, परिस्थितियों या घटनाओं के संदर्भ में जिनके अंतर्गत कोई दोषसिद्धि या निरोध भी है, किया जा सकता है जो इस अधिनियम के प्रारंभ के पूर्व उत्पन्न या घटित हुआ हो ।"

इसके अधीन पांच प्रवर्गों के व्यक्ति आते हैं । खंड (क) – ऐसे व्यक्ति जो उसमें निर्दिष्ट विभिन्न अधिनियमितियों के अधीन दोषसिद्ध किए गए हैं ; खंड (ख) – ऐसे व्यक्ति जिनकी बाबत कोफेपोसा के अधीन निरोध-आदेश किया गया है (कतिपय शर्तों/अपवादों के अधीन रहते हुए जिनके ब्यौरे हमारे प्रयोजन के लिए आवश्यक नहीं हैं) ; खंड (ग) ऐसे व्यक्ति, जो खंड

(क) या खंड (ख) में निर्दिष्ट व्यक्तियों के नातेदार हैं । "नातेदार" अभिव्यक्ति को भी स्पष्टीकरण 2 में स्पष्ट किया गया है । खंड (घ) – खंड (क) या खंड (ख) में निर्दिष्ट व्यक्तियों का प्रत्येक सहयुक्त । पुनः "सहयुक्त" अभिव्यक्ति को उपधारा (2) के स्पष्टीकरण 3 के अधीन स्पष्ट किया गया है । खंड (ङ) – ऐसी संपत्ति के पश्चात्वर्ती धारक, जो किसी समय खंड (क) या खंड (ख) में निर्दिष्ट व्यक्तियों की थी ।

21. धारा 4 (ऐसे किसी व्यक्ति के लिए जिसे अधिनियम लागू होता है) अवैध रूप से अर्जित कोई संपत्ति धारण करना अविधिपूर्ण बनाती है और उसमें आगे यह घोषित किया गया है कि ऐसी संपत्ति (अधिनियम के अधीन विहित प्रक्रिया का अनुसरण करके) केन्द्रीय सरकार को समपहृत किए जाने योग्य होगी । यह प्रक्रिया अधिनियम की धारा 6 और धारा 7 में अंतर्विष्ट है । धारा 8 साक्ष्य का विशेष नियम विहित करती है जो कि यह साबित करने का भार अंतरित करती है कि धारा 6 के अधीन सूचना में विनिर्दिष्ट कोई संपत्ति उस व्यक्ति की अवैध रूप से अर्जित संपत्ति नहीं है जिसे सूचना दी गई है । धारा 6 में अन्य बातों के साथ-साथ यह अभिधारित किया गया है कि यदि किसी व्यक्ति द्वारा (जिसे अधिनियम लागू होता है) धारित संपत्ति के मूल्य और उसकी आय के ज्ञात स्रोतों को ध्यान में रखते हुए (धारा 5 के अधीन अधिसूचित) सक्षम प्राधिकारी के पास यह विश्वास करने का कारण है कि ऐसी संपत्ति "अवैध रूप से अर्जित संपत्ति" हैं तो सक्षम प्राधिकारी संपत्ति के धारक से यह अपेक्षा करने के लिए प्राधिकृत है कि वह आवश्यक साक्ष्य सहित अपनी आय का वह स्रोत इत्यादि उपदर्शित करे जिससे वह ऐसी संपत्ति अर्जित करने के लिए समर्थ हुआ । इसमें सक्षम प्राधिकारी को सूचना दिए जाने वाले व्यक्ति से इस संबंध में कारण दर्शाने की अपेक्षा करने के लिए भी प्राधिकृत किया गया है कि सूचना में उल्लिखित ऐसी सभी या किसी संपत्ति को अवैध रूप से अर्जित संपत्ति घोषित क्यों न किया जाए और वह केन्द्रीय सरकार द्वारा समपहृत क्यों नहीं की जानी चाहिए । धारा 7 में, धारा 6 के अधीन सूचना के उत्तर की प्राप्ति के पश्चात् सूचना दिए जाने वाले व्यक्ति को सुनवाई का युक्तियुक्त अवसर देने के लिए उपबंध किया गया है और इसमें सक्षम प्राधिकारी से इस बारे में निष्कर्ष अभिलिखित करने की अपेक्षा की गई है कि क्या प्रश्नगत सभी या कोई संपत्ति अवैध रूप से अर्जित संपत्ति है । धारा 7 में कतिपय आनुषंगिक विषयों के लिए भी उपबंध किया गया है जिनके ब्यौरे प्रस्तुत प्रयोजन के लिए आवश्यक नहीं हैं ।

22. "अवैध रूप से अर्जित संपत्ति" अभिव्यक्ति अधिनियम के अधीन विस्तृत निबंधनों में परिभाषित है । अधिनियम की धारा 3(ग) निम्नलिखित रूप में है :–

"धारा 3(ग) किसी ऐसे व्यक्ति के संबंध में, जिसको यह अधिनियम लागू होता है, 'अवैध रूप से अर्जित संपत्ति' से अभिप्रेत है, –

(i) कोई संपत्ति जो ऐसे व्यक्ति द्वारा, चाहे इस अधिनियम के प्रारंभ के पूर्व या पश्चात् किसी ऐसी आय, उपार्जनों या आस्तियों से या उनके माध्यम से पूर्णतः या भागतः अर्जित है जो किसी ऐसे विषय के बारे में, जिसकी बाबत संसद् को विधियां बनाने की शक्ति है, उस समय प्रवृत्त किसी विधि द्वारा या उसके अधीन प्रतिषिद्ध किसी कार्य से व्युत्पन्न या अभिप्राप्त की गई है अथवा उसके फलस्वरूप की गई मानी जा सकती है ; या

(ii) कोई संपत्ति जो ऐसे व्यक्ति द्वारा, चाहे इस अधिनियम के प्रारंभ के पूर्व या पश्चात् किसी ऐसी आय, उपार्जनों या आस्तियों से या उनके माध्यम से पूर्णतः या भागतः अर्जित है जिनकी बाबत किसी ऐसी विधि का उल्लंघन किया गया है ; या

(iii) कोई संपत्ति जो ऐसे व्यक्ति द्वारा, चाहे इस अधिनियम के प्रारंभ के पूर्व या पश्चात् किसी ऐसी आय, उपार्जनों या आस्तियों से या उनके माध्यम से पूर्णतः या भागतः अर्जित है जिनका स्रोत साबित नहीं किया जा सकता है और जिनके बारे में यह दर्शाया नहीं जा सकता है कि वे किसी ऐसे विषय के बारे में, जिसकी बाबत संसद् को विधियां बनाने की शक्ति है, किए गए किसी कार्य या की गई किसी बात से हुई मानी जा सकती है ; या

(iv) कोई संपत्ति जो ऐसे व्यक्ति द्वारा, चाहे इस अधिनियम के प्रारंभ के पूर्व या पश्चात् प्रतिफल देकर या किन्हीं ऐसे साधनों से अर्जित है जो उपखंड (i) से (iii) में निर्दिष्ट किसी संपत्ति से अथवा ऐसी संपत्ति से हुई आय या उपार्जनों से पूर्णतः या भागतः संबंधित है ;

और इसके अंतर्गत निम्नलिखित नहीं है, अर्थात् –

(क) ऐसे व्यक्ति द्वारा धारित कोई संपत्ति, जो उसके किसी पूर्वतन धारक द्वारा उसे धारण करना बन्द न किए जाने की दशा में, ऐसे पूर्वतन धारक के संबंध में इस खंड के अधीन उस दशा के सिवाय अवैध रूप से अर्जित संपत्ति होती जब कि ऐसा व्यक्ति या कोई अन्य व्यक्ति जो ऐसे पूर्वतन धारक या, जहां दो या अधिक ऐसे पूर्वतन धारक हों वहां ऐसे पूर्वतन धारकों में से अंतिम धारक के पश्चात् किसी समय उस संपत्ति का धारण किए हुए था, सद्भावपूर्ण पर्याप्त सप्रतिफल अंतरिती है या था ;

(ख) कोई संपत्ति जो ऐसे व्यक्ति द्वारा, चाहे इस अधिनियम के प्रारंभ के पूर्व या पश्चात्, प्रतिफल देकर या किन्हीं ऐसे साधनों से अर्जित है जो मद (क) के अंतर्गत आने वाली किसी संपत्ति से अथवा उनसे हुए आय या उपार्जनों से पूर्णतः या भागतः संबंधित हैं ।"

इस परिभाषा में व्यापक रूप से दो प्रकार की संपत्तियां आती हैं :–

1. ऐसी आय या उपार्जनों द्वारा अर्जित ; और

2. व्युत्पन्न या अभिप्राप्त ऐसी आस्तियां ।

जो किसी ऐसे कार्य से की गई है अथवा उसके फलस्वरूप की गई मानी जा सकती है जो प्रवृत्त विधि द्वारा या उसके अधीन प्रतिषिद्ध है । वह विधि ऐसी विधि होनी चाहिए जिसकी बाबत संसद् को विधि बनाने की शक्ति है । हमारे प्रयोजन के लिए इस परिभाषा के सभी पहलुओं का संपूर्ण विश्लेषण करना आवश्यक नहीं हो सकता है ।

23. अधिनियम की भाषा और स्कीम से यह प्रतीत नहीं होता है कि अधिनियम का लागू होना ऐसे व्यक्तियों तक सीमित है जिन्हें या तो अधिनियम की धारा 2(2)(क) में विनिर्दिष्ट किसी भी कार्य के अधीन दोषसिद्ध किया गया है या प्रश्नगत अधिनियम के प्रारंभ के पश्चात् कोफेपोसा के अधीन निरुद्ध किया गया है । दूसरी ओर, धारा 2 के स्पष्टीकरण 4 में अभिव्यक्त रूप से निम्न प्रकार घोषित किया गया है :–

"स्पष्टीकरण 4 – शंकाएं दूर करने के लिए इसके द्वारा यह उपबंध किया जाता है कि इस प्रश्न का अवधारण कि क्या कोई व्यक्ति ऐसा व्यक्ति है जिसको इस अधिनियम के उपबंध लागू होते हैं, ऐसे तथ्यों, परिस्थितियों या घटनाओं के संदर्भ में जिनके अंतर्गत

> कोई दोषसिद्धि या निरोध भी है, किया जा सकता है जो इस अधिनियम के प्रारंभ के पूर्व उत्पन्न या घटित हुआ हो ।"

इसके अलावा, हमने इससे पूर्व इस तथ्य का उल्लेख किया है कि अन्य प्रवर्गों के व्यक्ति भी हैं जिन्हें यह अधिनियम लागू होता है ।

24. अपीलार्थी ऐसा व्यक्ति प्रतीत होता है जिसे अधिनियम लागू होता है । उसे कोफेपोसा के उपबंधों के अधीन निरुद्ध किया गया था । तथापि, ऐसा निरोध अधिनियम के प्रारंभ के प्रारंभ होने के पूर्व किया गया था, जो कि 25 जनवरी, 1976 को प्रवृत्त हुआ था जबकि निरोध-आदेश 19 दिसम्बर, 1974 को पारित किया गया था । अपीलाधीन निर्णय से यह प्रतीत होता है कि अपीलार्थी को अंततोगत्वा वर्ष 1977 में मुक्त कर दिया गया था ।

25. अधिनियम की धारा 7(3) में ऐसे व्यक्तियों की, जिन्हें अधिनियम लागू किया गया है, अवैध रूप से अर्जित संपत्ति को अधिनियम की धारा 6 और धारा 7 के अधीन अनुध्यात समुचित जांच के पश्चात् समपहृत करने का उपबंध है । दूसरे शब्दों में, अधिनियम में ऐसे व्यक्तियों की, जिन्हें अधिनियम लागू होता है, (अवैध रूप से अर्जित) संपत्ति के वंचन के लिए उपबंध किया गया है । हमसे जिस प्रश्न पर विचार करने की अपेक्षा की गई थी वह यह था कि क्या ऐसा वंचन धारा 2 के स्पष्टीकरण 4 के साथ-साथ, जो कि निम्मलिखित रूप में है, इस मामले की विनिर्दिष्ट तथ्यात्मक पृष्ठभूमि को ध्यान में रखते हुए भारत के संविधान के अनुच्छेद 20 से संगत है :–

> "स्पष्टीकरण 4 - शंकाएं दूर करने के लिए इसके द्वारा यह उपबंध किया जाता है कि इस प्रश्न का अवधारण कि क्या कोई व्यक्ति ऐसा व्यक्ति है जिसको इस अधिनियम के उपबंध लागू होते हैं, ऐसे तथ्यों, परिस्थितियों या घटनाओं के संदर्भ में जिनके अंतर्गत कोई दोषसिद्धि या निरोध भी है, किया जा सकता है जो इस अधिनियम के प्रारंभ के पूर्व उत्पन्न या घटित हुआ हो ।"

संविधान का अनुच्छेद 20 इस प्रकार है :–

> "20. अपराधों के लिए दोषसिद्धि के संबंध में संरक्षण – (1) कोई व्यक्ति किसी अपराध के लिए तब तक सिद्धदोष नहीं ठहराया जाएगा, जब तक कि उसने ऐसा कोई कार्य करने के समय, जो अपराध के रूप में आरोपित है, किसी प्रवृत्त विधि का अतिक्रमण नहीं किया है या उससे अधिक शास्ति का भागी नहीं होगा जो उस

अपराध के किए जाने के समय प्रवृत्त विधि के अधीन अधिरोपित की जा सकती थी ।

(2) किसी व्यक्ति को एक ही अपराध के लिए एक बार से अधिक अभियोजित और दंडित नहीं किया जाएगा ।

(3) किसी अपराध के लिए अभियुक्त किसी व्यक्ति को स्वयं अपने विरुद्ध साक्षी होने के लिए बाध्य नहीं किया जाएगा ।"

इस प्रश्न का उत्तर इस बात पर निर्भर करता है कि क्या ऐसा वंचन अनुच्छेद 20 में आने वाली उक्त अभिव्यक्ति के अर्थान्तर्गत शास्ति है ।

26. अनुच्छेद 20 में भारत गणराज्य के नागरिकों के लिए एक अत्यंत मूलभूत गारंटी अंतर्विष्ट है । यह अनुच्छेद, जहां तक वह हमारे प्रयोजन के लिए सुसंगत है, दो बातों का अनुबंध करता है :–

- कोई व्यक्ति किसी अपराध के लिए तब तक सिद्धदोष नहीं ठहराया जाएगा, जब तक कि उसने ऐसा कोई कार्य करने के समय, जो अपराध के रूप में आरोपित है, किसी प्रवृत्त विधि का अतिक्रमण नहीं किया है ; और

- कोई व्यक्ति उससे अधिक शास्ति का भागी नहीं होगा जो उस अपराध के किए जाने के समय प्रवृत्त विधि के अधीन अधिरोपित की जा सकती थी ।

27. यह सांविधानिक विधि का सुस्थापित सिद्धांत है कि प्रभुत्तासंपन्न विधायी निकाय भूतलक्षी प्रवर्तन से विधियां बना सकते हैं और ऐसी विधियां बना सकते हैं जिनका प्रवर्तन विधि बनाने के पूर्व के तथ्यों या घटनाओं पर निर्भर करता है । तथापि, इस साधारण नियम से दांडिक विधि समान रूप से सुस्थापित एक अन्य सांविधानिक विधि के सिद्धांत के अधीन अपवर्जित है, अर्थात्, दांडिक विधि के संबंध में भूतलक्षी प्रभाव से कोई विधान अनुज्ञेय नहीं होता है । अनुच्छेद 20 में संविधान के अधीन कार्य करने वाले प्रभुत्तासंपन्न विधान-मंडल के भूतलक्षी या पूर्वप्रभावी विधियां बनाने संबंधी साधारण प्राधिकार का ऐसा अपवाद अंतर्विष्ट है ।

28. अपीलार्थी की दलील यह है कि चूंकि अधिनियम में अपीलार्थी की संपत्ति को इस आधार पर समपहृत करने का उपबंध है कि अपीलार्थी को कोफेपोसा के अधीन निरुद्ध किया गया था, इसलिए प्रस्थापित समपहरण संविधान के अनुच्छेद 20 के अधीन अभिव्यक्ति के अर्थान्तर्गत

शास्ति के अलावा कुछ नहीं है । ऐसा निष्कर्ष "अवैध रूप से अर्जित" संपत्ति की परिभाषा को ध्यान में रखते हुए अपरिहार्य है जो (अधिनियम के अधीन) परिभाषा द्वारा ऐसी संपत्ति है जो "ऐसी आय, उपार्जनों.... में से या उनके माध्यम से अर्जित संपत्ति है जो किसी विधि द्वारा या उसके अधीन प्रतिषिद्ध किसी कार्य से अभिप्राप्त की गई है अथवा उनके फलस्वरूप की गई मानी जा सकती है ।" दूसरी ओर, यदि अधिनियम द्वारा अनुध्यात समपहरण को अपीलार्थी की ओर से विधि के अभिकथित अतिक्रमण के लिए शास्ति के रूप में नहीं माना जाता है तो यह राज्य द्वारा किसी तथ्यात्मक न्यायौचित्य या सांविधानिक प्राधिकार के बिना अपीलार्थी की संपत्ति का स्पष्टतया अधिहरण होगा ।

29. अपीलार्थी के विद्वान् काउन्सेल ने आगे यह दलील दी कि अधिनियम के अधीन अनुध्यात समपहरण, चाहे वह सीमा-शुल्क अधिनियम द्वारा प्रतिषिद्ध कतिपय विनिर्दिष्ट क्रियाकलाप में साबित दोषिता या उसमें आलिप्त होने के संदेह पर आधारित हो, एक ऐसी "शास्ति" हो सकेगा जिसे भारत के संविधान के अनुच्छेद 20 का प्रतिषेध लागू होगा । यह दलील दी गई है कि भारतीय दंड संहिता की धारा 53 के अधीन संपत्ति का समपहरण भारतीय दंड संहिता के अधीन आने वाले कुछ अपराधों के लिए विहित दंडादेश है । दंड संहिता की धारा 53 निम्न प्रकार है :–

> "धारा 53. दंड – अपराधी इस संहिता के उपबंधों के अधीन जिन दंडों से दंडनीय हैं, वे ये हैं –
>
> पहला – मृत्यु ;
>
> दूसरा – आजीवन कारावास ;
>
> तीसरा – लोप किया गया ;
>
> चौथा – कारावास, जो दो भांति का है, अर्थात् –
>
> (1) कठिन, अर्थात् कठोर श्रम के साथ ;
>
> (2) सादा ;
>
> पांचवा – संपत्ति का समपहरण ;
>
> छठा – जुर्माना ।"

30. अपीलार्थी के विद्वान् काउन्सेल ने **आर. एस. जोशी, विक्रय-कर अधिकारी, गुजरात और अन्य** बनाम **अजीत मिल्स लिमिटेड, अहमदाबाद**

और एक अन्य[1] वाले मामले का अवलंब लेते हुए यह दलील दी कि इस न्यायालय की संविधान पीठ ने भी यह राय व्यक्त की है कि "समपहरण" से "किसी प्रतिषेधात्मक निदेश के भंग के लिए शास्ति" अभिप्रेत है । उक्त निर्णय में निम्न प्रकार मत व्यक्त किया गया है :–

> "18. अब "समपहरण" को लेते हैं । "समपहरण" का वास्तविक स्वरूप क्या है ? क्या यह दांडिक है या किसी एक व्यक्ति द्वारा दूसरे व्यक्ति से धन लेने का केवल एक और ढंग है ? यदि यह दांडिक है तो यह विवक्षित शक्तियों के अंतर्गत आता है । यदि यह केवल व्यवहारी से राज्य को धन अंतरित करने का कार्य है तो यह विधायी प्रविष्टि के अंतर्गत नहीं आता । यह उन विनिश्चयों का सार है जिन पर हम अब विचार करेंगे । यह दलील दी गई थी कि "समपहरण" का अर्थ शास्ति नहीं है । संभवतः इसका विनिश्चय कानून विशेष के विनिर्दिष्ट संदर्भ को ध्यान में रखकर करना होगा । किन्तु साधारणतया और धारा 37, सपठित धारा 46, के उद्देश्य को ध्यान में रखते हुए हम इस मत के लिए उन्मुख हैं कि समपहरण का प्रभाव दांडिक होता है । ब्लैक की लीगल डिक्शनरी में कहा गया है कि "समपहरण होने" का अर्थ "किसी गलती, व्यतिक्रम, अपराध या जुर्म के द्वारा खो देना, के प्रति अधिकार को खो देना" या "शास्ति उपगत करना" है । न्यायिक दृष्टि से "समपहरण", "किसी विधि-विरुद्ध कार्य या उपेक्षा से विधि द्वारा उपाबद्ध दंड" है । "किसी अपराध या अवचार के लिए दंड के रूप में अधिरोपित अधिरोपण" है । इस अर्थ में इस शब्द को प्रायः "शास्ति" शब्द से सहबद्ध किया जाता है । ब्लैक की लीगल डिक्शनरी के अनुसार,
>
> > "जुर्माना", "समपहरण" और "शास्ति" पदों का प्रायः मुक्त रूप से और एक दूसरे के अर्थ में भी प्रयोग किया जाता है किन्तु जब इनमें विभेद किया जाता है तब "शास्ति" का स्वरूप सामान्य है, जिसके अंतर्गत जुर्माना और समपहरण दोनों आ जाते हैं । "जुर्माना" धन विषयक शास्ति है और सामान्यतः (संभवतः सदैव) किसी न किसी रूप में वाद द्वारा संगृहीत की जाती है । "समपहरण" ऐसी शास्ति है जिसके द्वारा व्यक्ति अपनी संपत्ति में अपने अधिकार और हित को खो देता है ।

---

[1] [1978] 3 उम. नि. प. 1063 = (1977) 4 एस. सी. सी. 98.

अमेरिका की सुप्रीम कोर्ट ने "समपहरण" की संकल्पना को कानूनी अर्थान्वयन के संदर्भ में और भी अधिक स्पष्ट रूप से बताया है । स्टेट आफ मेरिलैंड **बनाम** बाल्टिमोर एंड ओहयो आर. आर. कंपनी (11 लाइयर्स एडीशन 714, पृ. 722) में मुख्य न्यायमूर्ति टेने ने निम्नलिखित मत व्यक्त किया है –

> 'और प्रस्तुत मामले की तरह के इस उपबंध को कि यदि पक्षकार विधि द्वारा अपेक्षित कार्य नहीं करता तो उसकी कुछ धनराशि का समपहरण हो जाएगा, कानूनों के अर्थान्वयन में, सदैव अवचारी पक्षकार के साथ संविदा के रूप में नहीं, अपितु अपराध के लिए दंड के रूप में समझा गया है । निस्संदेह, व्यष्टियों के मामले में समपहरण शब्द का अर्थान्वयन संविदा की भाषा के रूप में किया गया है क्योंकि संविदा ही ऐसा एकमात्र ढंग है जिसमें कोई व्यक्ति कर्तव्य-भंग के लिए या बाध्यता का पालन न करने के लिए किसी अन्य व्यक्ति की शास्ति का संदाय करने के दायित्वाधीन हो सकता है । तथापि, विधायी कार्यवाहियों में अर्थान्वयन भिन्न होता है और समपहरण को सदैव विधि द्वारा पक्षकार पर डाले गए किसी कर्तव्य के उल्लंघन के लिए आशयित दंड समझा जाता है और विचाराधीन अधिनियम में इस शब्द का बिल्कुल स्पष्ट रूप से यही अर्थ है ।'

19. हमारे न्यायालय द्वारा भी यही अर्थ लगाया गया है । एक खंड न्यायपीठ ने बांकुरा नगरपालिका **बनाम** लालजी राजा एंड सन्स [(1953) क्रिमिनल ला जर्नल 1101] में अभिनिर्धारित किया है –

> ''समपहरण' शब्द के शब्दकोषीय अर्थ के अनुसार माल की हानि या उससे वंचन, जुर्म, अपराध या वचन-भंग के परिणामस्वरूप होना चाहिए या अतिलंघन के लिए शास्ति अथवा अपराध के लिए दंड के रूप में होनी चाहिए । यदि माल की हानि या वंचन, जुर्म, अपराध या वचन-भंग के लिए शास्ति या दंड के रूप में न हो तो यह समपहरण की परिभाषा के अंतर्गत नहीं आएगा ।'

इस प्रकार, "समपहरण" शब्द का अर्थ वही होना चाहिए जो निषेधात्मक निदेश को भंग करने के लिए शास्ति का है । यदि यह मान भी लिया जाए कि व्यवहारियों द्वारा किए गए विधिविरुद्ध संग्रहणों

के अंकों और राज्य को समपहरण हुई रकमों के बीच गणितीय समानता है तो भी इस तथ्य से यह संकल्पनात्मक भ्रांति नहीं हो सकती कि जिसका उपबंध किया गया है, वह दंड नहीं है अपितु निधियों का अंतरण है । यदि यह मत सही नहीं है और हम ऐसा अभिनिर्धारित करते हैं तो विधान-मंडल समपहरण आरोपित करके उस दशा में सीमा रेखा से बाहर नहीं जाता जब वह व्यवहारी पर आघात करता है और विधि की शास्ति द्वारा उसे ग्राहकों से विधिविरुद्ध रूप से एकत्रित रकम से वंचित कर देता है । भारत में दंड प्रक्रिया संहिता, सीमा-शुल्क और उत्पाद-शुल्क विधियां तथा अनेक अन्य दांडिक कानूनों में समपहरण को शास्ति के रूप में स्वीकार करने वाले सिद्धांत का प्रयोग किया गया है । इस न्यायालय की नजीरों पर विचार करते समय हम इस बात का पता लगाएंगे कि क्या "समपहरण" के इस सही स्वरूप का धारा 37(1), 46 या 63 की किसी बात द्वारा खंडन किया गया है । इस संबंध में भी हम विचार को नामंजूर करते हैं कि शास्ति या दंड आत्यांतिक या व्यतिक्रम रहित दायित्व के रूप में आरोपित नहीं किया जा सकता अपितु इससे पूर्व आपराधिक मनःस्थिति होना अनिवार्य है । यह पौराणिक मत कि "आपराधिक मनःस्थिति न हो तो अपराध नहीं होता", बहुत पहले समाप्त हो गया है और भारत तथा विदेशों में अनेक विधियों में, विशेष रूप से, आर्थिक अपराधों और विभागीय शास्तियों के संबंध में, उस दशा में भी कठोर दंडों का सृजन किया गया है जिससे अपराधों की परिभाषा आपराधिक मनःस्थिति को अपवर्जित करके करनी पड़ी है । इसलिए यह दलील कि धारा 37(1) में व्यतिक्रम का विचार किए बिना भारी दायित्व डाला गया है, समपहरण को शास्ति के स्वरूप से वंचित करने के लिए बलहीन है ।'

31. दूसरी ओर, प्रत्यर्थी की ओर से उपस्थित होते हुए विद्वान् अपर महासालिसिटर ने यह दलील दी कि अधिनियम के अधीन अनुध्यात समपहरण अनुच्छेद 20 में आने वाली उस अभिव्यक्ति के अर्थान्तर्गत "शास्ति" नहीं है बल्कि विधायी रूप से परिलक्षित वर्ग के व्यक्तियों की ओर से (राज्य के समाधानप्रद रूप में) यह स्पष्ट करने में असमर्थ होने की दशा में उनकी संपत्ति का केवल वंचन है कि उनके पास उस संपत्ति के अर्जन के लिए निधियों का विधिसम्मत स्रोत था । विद्वान् अपर महासालिसिटर ने इसके आगे यह दलील दी कि जबकि अधिनियम की धारा 2(2)(क) के अंतर्गत आने वाले उस वर्ग के व्यक्तियों की दशा में यद्यपि समपहरण का

कोई अपराध कारित करने और दोषसिद्धि से बहुत कम संबंध है तथापि, अन्य चार वर्गों के व्यक्तियों के प्रति निर्देश से, जिन्हें धारा 2(2)(ख) के अधीन अधिनियम लागू किया गया है, समपहरण का किसी अपराध या दोषसिद्धि से कोई संबंध नहीं है । इसलिए, यह कहना कि अधिनियम के अधीन समपहरण को अनुच्छेद 20 के अधीन प्रतिषेध लागू होता है, विधि की दृष्टि से आधारहीन है । विद्वान् अपर महासालिसिटर ने अपनी दलील के समर्थन में **पश्चिमी बंगाल राज्य** बनाम **एस. के. घोष**[1] और **आर. एस. जोशी** (उपर्युक्त) वाले मामलों का भी अवलंब लिया । अनुकल्पतः, विद्वान् अपर महासालिसिटर ने यह दलील दी कि इस तथ्य को ध्यान में रखते हुए कि अधिनियम नवीं अनुसूची में सम्मिलित है, यह अधिनियम इस आधार पर किसी भी चुनौती से उन्मुक्त है कि इससे भारत के संविधान के भाग 3 में अंतर्विष्ट मूल अधिकारों में से किसी एक मूल अधिकार का अतिक्रमण होता है, जैसा कि इस न्यायालय की संविधान पीठ द्वारा **भारत के महान्यायवादी और अन्य** बनाम **अमृतलाल प्रजीवनदास और अन्य**[2] वाले मामले में अभिनिर्धारित किया गया था ।

32. लार्ड ग्रीन ने **बिडी** बनाम **जनरल एक्सीडेंट, फायर एंड लाइफ एश्योरेंस कारपोरेशन**[3] वाले मामले में किसी कानून में की किसी अभिव्यक्ति का अर्थान्वयन अभिनिश्चित करने के संदर्भ में यह कहा कि अंग्रेजी भाषा में कुछ शब्दों का इस आशय में स्वाभाविक या साधारण अर्थ होता है कि उनका पठन इस प्रकार किया जाना चाहिए कि उनका अर्थ संपूर्ण रूप से उनके संदर्भ से भिन्न है ।

33. मुख्य न्यायमूर्ति सीकरी ने **महामहिम केशवानन्द भारती श्रीपदगलवरु** बनाम **केरल राज्य और एक अन्य**[4] वाले मामले में इस विषय पर विचार किया और दो आंग्ल विनिश्चयों और एक अमेरिकी विनिश्चय के प्रति निर्देश करते हुए सारतः यह कहा कि किसी कानून में आने वाले किसी शब्द के अर्थ को उस संदर्भ और अधिनियम की स्कीम की परीक्षा किए बिना अभिनिश्चित नहीं किया जा सकता है, जिसमें वह अभिव्यक्ति आती है । उस मामले में इस प्रकार अभिनिर्धारित किया गया :–

"56. इस "संविधान का संशोधन" अभिव्यक्ति का अर्थान्वयन

---

[1] ए. आई. आर. 1963 एस. सी. 255.

[2] (1994) 5 एस. सी. सी. 54.

[3] (1948) 2 आल इंग्लैंड ला रिपोर्ट्स 995.

[4] [1973] 2 उम. नि. प. 159 = (1973) 4 एस. सी. सी. 225.

करते समय मुझे संविधान की संपूर्ण स्कीम को देखना पड़ेगा । शून्य में शब्दों का अर्थ करना (प्रसंग से अलग रख कर अर्थ करना) तथा किसी अनुच्छेद में पुनः उस अर्थ को अंतःस्थापित करना सही नहीं है । बिडी **बनाम** जनरल एक्सीडेंट फायर एंड लाइफ एश्योरेंस कारपोरेशन [(1948) 2 आल इंग्लैंड ला रिपोर्ट्स 995, पृ. 998] वाले मामले में लार्ड ग्रीन ने निम्नलिखित मत दिया था –

> 'प्रथम बात जो करनी है, हमें यह सोचने का साहस करना है कि संसद् के किसी अधिनियम की धारा के शब्दों का अर्थान्वयन करते समय उन शब्दों का अर्थ शून्य में (प्रसंग से अलग रख कर) इस उद्देश्य से नहीं करना चाहिए कि बाद में जिसे नैसर्गिक या मामूली अर्थ कहा जाता है, उसको दिया जाए और उसे कहा जाए । अंग्रेजी भाषा में कुछ शब्द भाव में नैसर्गिक और मामूली अर्थ रखते हैं कि उनका अर्थ पूर्णतया उनके प्रसंग से भिन्न होता है । कानून का अर्थान्वयन करने की रीति में मैं यह अच्छा नहीं समझता हूं कि विशिष्ट शब्द को लिया जाए और उसे प्रसंग से हटकर उपांतरित करके वह अर्थ दिया जाए जो प्रथमदृष्ट्या नहीं है । संपूर्ण कानून को पढ़ना चाहिए और यह प्रश्न रखना चाहिए कि इस दशा में इस प्रसंग में और इस विषयवस्तु की बाबत उस शब्द का सही अर्थ क्या है ।'

57. मैं 'संविधान का संशोधन' अभिव्यक्ति का अर्थ करते समय दिए गए लार्ड ग्रीन के तर्क को आदरपूर्वक अंगीकार करता हूं ।

58. यह लार्ड ग्रीन का ही अकेला दृष्टिकोण नहीं रहा है । बोर्ने **बनाम** नोरविक क्रिमेटोरियम [(1967) 2 आल इंग्लैंड ला रिपोर्ट्स 576, पृ. 578] वाले मामले में निम्न प्रकार मत व्यक्त किया गया था –

> 'अंग्रेजी शब्द उस परिवेश से स्वरूप प्राप्त करते हैं जिसमें कि वे प्रयुक्त होते हैं । वाक्य केवल शब्दों के ऐसे संग्रह नहीं हैं जो कोष या विनिश्चित मामलों के निर्देश से पृथक् रूप से परिभाषित वाक्य से पृथक् लिए जाते हैं और पुनः शब्दों के रूप में हम उन्हें उस वाक्य में उस अर्थ में रखते हैं जिस अर्थ को हमने दिया है । परिणाम यह होगा कि इससे उस वाक्य या शब्दावली को जो अर्थ दिया जाएगा, बिना अंग्रेजी भाषा को विकृत किए उस वाक्य या शब्दावली का वह अर्थ नहीं किया जा सकता ।'

59. टोने **बनाम** आइसनर (245 यू. एस. 418, 425) वाले मामले में न्यायमूर्ति होल्मस के भी वही विचार थे । उन्होंने निम्न प्रकार मत दिया था –

> 'शब्द निश्चित सुस्पष्ट और शाश्वत नहीं हैं । यह जीवन्त विचारों का ताना-बाना है और उन परिस्थितियों के और उस समय के, जिसमें कि यह प्रयुक्त होता है, अनुसार इसके स्वरूप और अर्थबोध बहुत ही भिन्न हो सकते हैं ।'

34. अधिनियम के अधीन अनुध्यात संपत्ति के समपहरण की प्रणाली नई नहीं है । कम से कम वर्ष 1944 से ऐसी प्रणाली इस देश में प्रचलित है (यद्यपि समरूप नहीं है तथापि, आक्षेपित प्रणाली से मिलती-जुलती है) । वर्ष 1943 और वर्ष 1944 में दो अध्यादेश किए गए थे, तत्पश्चात् वर्ष 1945 में एक अन्य अध्यादेश द्वारा संशोधित किए गए थे, ये सभी दांडिक विधि संशोधन अध्यादेश कहे जाते हैं जो कि इस देश में अनुच्छेद 372 और कुछ पूर्व विधियों के प्रवर्तन के आधार पर प्रवृत्त बने रहे – जिनका ब्यौरा देना प्रस्तुत प्रयोजन के लिए आवश्यक नहीं है । 1943 के अध्यादेश के अधीन दो विशेष अधिकरण "द्वितीय अनुसूची इत्यादि के अधीन विहित अपराध के ऐसे आरोपों की बाबत प्रथम अनुसूची में" उन्हें आबंटित मामलों का विचारण करने के लिए गठित किए गए थे । तात्विक रूप से, ऐसे मामले या तो किसी लोक सेवक द्वारा अवैध परितोषण प्राप्त करने या लोक धन इत्यादि का गबन करने के अपराध के मामले थे । 1944 के अध्यादेश में धन या ऐसी संपत्ति की कुर्की के लिए उपबंध था जिसके बारे में यह विश्वास किया जाता है कि वह अपराधी द्वारा ऊपर उल्लिखित अनुसूचीगत अपराधों में से किसी एक अपराध के माध्यम से उपाप्त किए गए हैं । कुर्क की गई ऐसी संपत्ति का उक्त अध्यादेश की धारा 13 के अधीन किए गए उपबंध के अनुसार व्ययन किया जाना आवश्यक है । अध्यादेश की धारा 12 के अधीन किसी अनुसूचीगत अपराध का विचारण करने वाला दांडिक न्यायालय अभियुक्त द्वारा अपराध के माध्यम से उपाप्त की गई रकम या संपत्ति का मूल्य अभिनिश्चित करने के लिए बाध्य होता है । धारा 13(3) के अधीन यह उपबंध किया गया है कि पूर्व में निर्दिष्ट कुर्क की गई इतनी संपत्ति जो कि धारा 12 के अधीन दांडिक न्यायालय द्वारा अभिनिश्चित मूल्य के समतुल्य है, राज्य को समपहृत की जानी है ।

35. इस प्रश्न पर विचार करते हुए कि – क्या ऐसे समपहरण से (मामले की तथ्यात्मक पृष्ठभूमि में) भारत के संविधान के अनुच्छेद 20 का

अतिक्रमण हुआ था ? इस न्यायालय की एक संविधान पीठ ने यह अभिनिर्धारित किया कि अध्यादेश में अनुध्यात समपहरण अनुच्छेद 20 के अर्थान्तर्गत शास्ति नहीं था बल्कि यह अभियुक्त द्वारा गबन किए गए धन की वसूली करने की त्वरित पद्धति है । **पश्चिमी बंगाल राज्य** बनाम **एस. के. घोष** (उपर्युक्त) वाले मामले में निम्न प्रकार अभिनिर्धारित किया गया था :–

> "पैरा 15. अतः हमारी यह राय है कि ऐसे अपराधों के मामले में, जिनमें सरकारी धन या संपत्ति का गबन अंतर्वलित होता है, धारा 13(3) में उपबंधित समपहरण वास्तव में ऐसे वाद की तुलना में, जो कि सरकार निर्विवाद रूप से धन या संपत्ति की वसूली के लिए ला सकती है, सरकारी धन या संपत्ति को वसूल करने की त्वरित पद्धति है और वह अनुच्छेद 20(1) के अर्थान्तर्गत दंड या शास्ति नहीं है । ऐसा वाद साधारणतया उस जुर्माने को वसूल करने के अधिकार पर किसी प्रकार का प्रतिकूल प्रभाव डाले बिना लाया जा सकता है जो कि किसी दांडिक न्यायालय द्वारा उस अपराध के संबंध में अधिरोपित किया जा सकता है ।"

36. **आर. एस. जोशी** (उपर्युक्त) वाले मामले में प्रश्न यह था कि क्या राज्य विधान-मंडल के लिए ऐसा अधिनियमित करना अनुज्ञेय था कि व्यवहारियों द्वारा विक्रय-कर के रूप में संगृहीत धनराशियां जो कि राज्य विधि के अधीन अपेक्षणीय नहीं है – वस्तुतः उसके द्वारा प्रतिषिद्ध हैं – राजकोष में समपहृत की जाएंगी ।

37. यह प्रश्न कि – क्या ऐसा समपहरण अनुच्छेद 20 का अतिक्रमण करने वाली एक शास्ति था, उस मामले के तथ्यों के आधार पर उद्‌भूत नहीं हुआ । विचार-विमर्श इस प्रश्न के चारों ओर केन्द्रित रहा कि – क्या ऐसा समपहरण सुसंगत विक्रय-कर अधिनियम की धारा 46 के अधीन अंतर्विष्ट किसी प्रतिषेध के अतिक्रमण के कारण एक शास्ति है ? धारा 46 के उल्लंघन को उक्त अधिनियम की धारा 63 के अधीन कारावास और जुर्माने से दंडनीय बनाया गया है । इसके अलावा, उक्त अधिनियम की धारा 37 में ऐसे व्यवहारियों के विरुद्ध, जिन्होंने धारा 46 के अधीन प्रतिषेध का अतिक्रमण किया है, विभागीय कार्यवाही करने के लिए उपबंध किया गया है । उक्त विभागीय कार्यवाही का परिणाम "...किसी व्यक्ति द्वारा धारा 46 का उल्लंघन करते हुए कर के रूप में संगृहीत कोई धनराशि" हो सकती है । न्यायालय के समक्ष विधिक मुद्दा यह था कि – क्या राज्य विधान-मंडल के पास ऐसे समपहरण के लिए उपबंध करने की आवश्यक

सक्षमता थी ? इस प्रश्न का उत्तर इस बात पर निर्भर था कि क्या ऐसा समपहरण राज्य द्वारा विक्रय-कर के उद्ग्रहण और संग्रहण के लिए बनाई गई विधि के अतिक्रमण के कारण शास्ति है । यदि यह शास्ति नहीं है बल्कि वह राज्य को (व्यवहारी द्वारा अवैध रूप से संगृहीत) धन का अंतरण मात्र है तो विधान-मंडल **आर. अब्दुल कादर और अन्य** बनाम **विक्रय-कर अधिकारी**[1] वाले मामले में इस न्यायालय की पूर्ववर्ती संविधान पीठ के विनिश्चय को ध्यान में रखते हुए ऐसा उपबंध करने के लिए असक्षम होगा । उक्त मामले में इस प्रकार अभिनिर्धारित किया गया था :–

> "इसलिए प्रथम विचारार्थ प्रश्न यह है कि क्या सूची 2 की प्रविष्टि 54 के अधीन अपनी शक्ति का प्रयोग करते हुए, राज्य विधान-मंडल को इस आशय का उपबंध करने की छूट थी कि कर के रूप में संगृहीत धनराशि, अधिनियम के अधीन कर के रूप में शोध्य न होने पर भी सरकार को दी जाएगी । यह स्पष्ट है कि कर के रूप में इस प्रकार संगृहीत धनराशियां वास्तव में अधिनियम के अधीन वसूल किया जा सकने वाला कर नहीं है । इसलिए यह नहीं कहा जा सकता है कि राज्य विधान-मंडल ऐसा उपबंध करते समय सूची 2 की प्रविष्टि 54 के अधीन प्रत्यक्ष रूप से विक्रय या क्रय-कर अधिरोपित करने के लिए विधि बना रहा था, क्योंकि उपबंध के अनुसार रकम कर के रूप में संगृहीत की गई होने पर भी विधि के अधीन कर के रूप में वसूल की जा सकने योग्य नहीं थी । किन्तु इस उपबंध को इस आधार पर न्यायोचित ठहराने का प्रयास किया गया है कि यद्यपि राज्य विधान-मंडल की सूची 2 की प्रविष्टि 54 के अधीन इस प्रयोजन के लिए बनाई गई विधि में ऐसी रकम की वसूली के लिए उपबंध करने की छूट नहीं थी जो कर नहीं है, तथापि, विधान-मंडल को व्यक्तियों द्वारा कर के रूप में संगृहीत सभी रकमों के संदाय के लिए उपबंध करने की छूट है चाहे वे वास्तव में कर के रूप में वसूल की जा सकने योग्य नहीं है । यह ऐसे कर के उद्ग्रहण और संग्रहण के लिए उपबंध करने की आनुषंगिक और गौण शक्ति का अंग है । इस विषय में कोई विवाद नहीं है कि अनुसूची के शीर्षों का इतना विस्तृत निर्वचन किया जाना चाहिए जिससे उनके अंतर्गत वे सभी विषय आ जाएं जो उसमें उपवर्णित विषयों के आनुषंगिक स्वरूप के हों । फिर भी सप्तम् अनुसूची में विद्यमान विभिन्न सूचियों की विधायी प्रविष्टियों

---

[1] ए. आई. आर. 1964 एस. सी. 922.

से उत्पन्न होने वाली ऐसी आनुषंगिक या गौण शक्ति की सीमाएं हैं । ये आनुषंगिक या गौण शक्तियां विधि के मुख्य विषय की सहायता के लिए प्रयोग की जानी होती है, जो प्रस्तुत मामले में माल के विक्रय या क्रय पर कर है । संबंधित कर के उद्ग्रहण और संग्रहण के लिए और यह सुनिश्चित करने के लिए कि कर का अपवंचन न हो, सभी शक्तियां विधायी प्रविष्टि के विषय-क्षेत्र में, आनुषंगिक या गौण शक्तियों के रूप में, आ जाती हैं । किन्तु जहां सुसंगत प्रविष्टि के अधीन विधायन इस आधार पर होता है कि संबंधित रकम उस प्रविष्टि के अधीन बनाई गई विधि के अधीन वसूल करने योग्य कर नहीं है, किन्तु फिर भी उसमें यह अधिकथित होता है कि यद्यपि यह विधि के अधीन वसूल किए जाने योग्य नहीं है, तथापि, इसका सरकार को केवल इसलिए संदाय किया जाएगा कि कुछ व्यवहारियों ने गलती से या अन्यथा इसका कर के रूप में संग्रहण किया है, वहां यह समझना कठिन है कि ऐसा उपबंध सुसंगत कराधान प्रविष्टि के अधीन बनाई गई विधि के अधीन उचित रूप से शोध्य कर के संग्रहण का आनुषंगिक या प्रासंगिक कैसे हो सकता है । हमारा यह विचार है कि आनुषंगिक या प्रासंगिक शक्ति का विषय-क्षेत्र विधान-मंडल को यह उपबंध करने के लिए अनुज्ञात करने तक विस्तृत नहीं है कि यद्यपि अनुचित रूप से कर के रूप में संगृहीत रकम सुसंगत कराधान प्रविष्टि के अधीन बनाई गई विधि के अधीन वसूली योग्य नहीं है तथापि, इसका संदाय सरकार को इस प्रकार किया जाएगा मानो यह कर है । सूची 2 की प्रविष्टि 54 के अधीन विधान-मंडल इस आशय का उपबंध नहीं कर सकता कि यद्यपि संग्रहण की गई कुछ रकम विधि में अधिकथित रूप से माल के विक्रय या क्रय पर कर नहीं है, तथापि, इसका इस प्रकार संग्रहण किया जाएगा मानो यह कर है । धारा 11(2) में यही उपबंध किया गया है । हमारी राय है कि ऐसा उपबंध उन आनुषंगिक या प्रासंगिक शक्तियों के अंतर्गत आने वाला नहीं माना जा सकता जो विधान-मंडल को सुसंगत कराधान प्रविष्टि के अधीन यह सुनिश्चित करने के लिए प्राप्त है कि कर का उद्ग्रहण और संग्रहण हो जाए और उसका अपवंचन असंभव हो जाए । इसलिए, हमारी राय है कि धारा 11(2) में विद्यमान उपबंध सूची 2 की प्रविष्टि 54 के अधीन नहीं बनाया जा सकता और इसे उस प्रविष्टि के अधीन अनुज्ञात आनुषंगिक या प्रासंगिक उपबंध के रूप में न्यायोचित नहीं ठहराया जा सकता ।"

38. जैसा कि ऊपर स्पष्ट किया गया है, **आर. एस. जोशी** (उपर्युक्त) वाले मामले में विवाद्यक और विनिश्चयाधार पूर्णतः भिन्न है और उसका भारत के संविधान के अनुच्छेद 20 के लागू होने से कोई संबंध नहीं है ।

39. अधिनियम के अधीन अनुध्यात समपहरण की सही प्रकृति को समझने के लिए उस संपत्ति की प्रकृति की, जिसे समपहृत करने की ईप्सा की गई है, और उन व्यक्तियों की भी, जिनसे ऐसा समपहरण करने की ईप्सा की गई है, परीक्षा करना आवश्यक है । जैसा कि पहले अवेक्षा की गई है, अधिनियम की धारा 2 के अधीन विनिर्दिष्ट पांच वर्गों के व्यक्तियों को लागू किया गया था । दूसरे शब्दों में, केवल उक्त पांच प्रवर्गों में से किसी एक प्रवर्ग के व्यक्तियों की संपत्तियों का अधिनियम के अधीन समपहरण किया जा सकता है । ऊपर उल्लिखित पांच प्रवर्गों में से किसी प्रवर्ग के अंतर्गत आने वाले किसी व्यक्ति द्वारा धारित संपत्तियों के संबंध में भी, उनकी संपूर्ण संपत्ति समपहृत नहीं की जा सकती है सिवाय उस संपत्ति के जो कि अधिनियम की धारा 3(ग) के अधीन यथा-परिभाषित अवैध रूप से अर्जित संपत्ति के रूप में अवधारित की जाती है । उन सभी पांच प्रवर्गों के व्यक्तियों में से, जिन्हें यह अधिनियम लागू होता है, धारा 2(2)(क) के अधीन विनिर्दिष्ट एक प्रवर्ग ही ऐसे व्यक्तियों का प्रवर्ग है जिन्हें अधिनियमितियों में से एक अधिनियमिति के अधीन उसमें उल्लिखित अपराध के लिए दोषी पाया गया है और दोषसिद्ध किया गया है । अन्य चार प्रवर्गों के व्यक्ति, जिन्हें अधिनियम लागू होता है, ऐसे व्यक्ति हैं जिनका किसी विधि के अधीन किसी अपराध या दोषसिद्धि से कोई संबंध नहीं है जबकि धारा 2(2)(ख) के अंतर्गत आने वाले प्रवर्ग के व्यक्ति ऐसे व्यक्ति हैं जिनके बारे में राज्य का यह विश्वास है कि वे विधि का अतिक्रमण करने वाले हैं । अन्य तीन प्रवर्गों के व्यक्ति साधारणतया ऐसे व्यक्ति हैं जो धारा 2(2)(क) और (ख) में उल्लिखित दो प्रवर्गों में से किसी एक प्रवर्ग से सहबद्ध हैं । कम से कम धारा 2(2)(क) के अंतर्गत आने वाले प्रवर्ग से भिन्न चार प्रवर्गों के प्रति निर्देश से संपत्ति का समपहरण/वंचन किसी अपराध के लिए दोषसिद्धि के परिणामस्वरूप नहीं है ।

40. अतः, इन चार प्रवर्गों के संबंध में अनुच्छेद के अतिक्रमण का प्रश्न उद्भूत नहीं होता है । जहां तक ऊपर उल्लिखित प्रथम प्रवर्ग का संबंध है, हमारी राय में, अनुच्छेद 20 इस कारण लागू नहीं होगा कि दोषसिद्धि ही केवल ऐसा कारक है जिसके द्वारा संसद् ऐसे व्यक्तियों की पहचान करती है जिन्हें अधिनियम लागू किया जाना है । अधिनियम में

धारा 2(2)(क) के अंतर्गत आने वाले सभी दोषसिद्ध व्यक्तियों या धारा 2(2)(ख) के अंतर्गत आने वाले निरुद्ध व्यक्तियों की संपत्तियों के अधिहरण के लिए उपबंध नहीं है । अधिनियम की धारा 6 सक्षम प्राधिकारी को समपहरण की कार्यवाहियां संस्थित करने के लिए केवल तभी प्राधिकृत करती हैं यदि उसके पास यह विश्वास करने के कारण हों (विश्वास के ऐसे कारण लिखित में लेखबद्ध किए जाने आवश्यक हैं) कि उन व्यक्तियों की, जिन्हें अधिनियम लागू होता है, सभी या कुछ संपत्तियां अवैध रूप से अर्जित संपत्तियां हैं । धारा 2 के अधीन अनुध्यात दोषसिद्धि या निवारक निरोध अधिहरण का आधार या कारण नहीं है किन्तु यह राज्य को इस बात की परीक्षा करने के लिए कि क्या ऐसे व्यक्तियों द्वारा धारित संपत्तियां अवैध रूप से अर्जित संपत्तियां हैं, कार्यवाहियां संस्थित करने में समर्थ बनाने हेतु खंडनीय उपधारणा के लिए तथ्यात्मक आधार है । यह विख्यात है कि धन कमाने के लिए तस्करी जैसे क्रियाकलाप करने वाले व्यक्ति अपनी गतिविधि बहुत प्रच्छन्न रखते हैं । प्रत्यक्ष सबूत, यदि असंभव नहीं तो कठिन अवश्य होता है । उनके क्रियाकलाप की प्रकृति और इससे समाज को पहुंचने वाली अपहानि विधान-मंडल को ऐसी धारणा बनाने के लिए पर्याप्त रूप से तर्कसंगत आधार प्रदान करती है । विशेष रूप से, धारा 6 में विनिर्दिष्ट रूप से वे पैरामीटर अनुबंधित हैं जिनसे सक्षम प्राधिकारी को एक राय बनाने में मार्गदर्शन मिलना चाहिए, वे ये हैं ; उस व्यक्ति की, जिसके विरुद्ध कार्यवाही करने की ईप्सा की गई है, संपत्ति का मूल्य और उसकी आय, उपार्जनों इत्यादि के ज्ञात स्रोत । जांच उन आस्तियों तक सीमित होती है जिसके बारे में सक्षम प्राधिकारी को प्रारंभ में यह विश्वास होता है कि वे धारक की आय के ज्ञात और विधिसम्मत स्रोतों को ध्यान में रखते हुए उसकी वित्तीय सक्षमता से परे हैं । इसका दोषसिद्धि से बहुत कम संबंध होता है और इसलिए हमारी राय में इसे भारत के संविधान के अनुच्छेद 20 में अंतर्विष्ट प्रतिषेध लागू नहीं होगा ।

41. यदि कोई नागरिक ऐसे साधनों से संपत्ति अर्जित करता है जो वैध रूप से अनुमोदित नहीं हैं तो राज्य द्वारा ऐसे व्यक्तियों को इस प्रकार पाप से कमाए गए धन का उपभोग करने से वंचित करना न्यायोचित है । यह सुनिश्चित करना एक लोक हित है कि वे व्यक्ति, जो यह साबित नहीं कर सकते हैं कि उनके पास उनके द्वारा धारित आस्तियों को अर्जित करने के विधिसम्मत स्रोत हैं, ऐसे धन का उपभोग न करें । हमारी राय में, ऐसा वंचन निश्चित रूप से संविधान के अनुच्छेद 300-क और अनुच्छेद 14 की अपेक्षा से संगत होगा जो राज्य को किसी नागरिक को उसकी संपत्ति से

मनमाने रूप से वंचित करने से निवारित करते हैं ।

42. इस प्रश्न की अनेक अधिकारिताओं में परीक्षा की गई है कि क्या ऐसी संपत्ति को धारित करना एक अधिकार है जो कि अपराध की उपज है । ऐसी परीक्षा के सार को समझने के लिए हम उपयोगी रूप से जर्नल आफ फाइनेंशियल क्राइम, 2004 में प्रकाशित एंथोनी केनेडी के एक लेख से उद्धरण प्रस्तुत कर सकते हैं :–

> "...यह सुझाव दिया गया है कि फर्स्ट प्रोटोकोल आफ दि यूरोपियन कन्वेंशन आन ह्यूमेन राइट्स के अनुच्छेद 1 का तर्कसम्मत निर्वचन यह है –
>
> 'प्रत्येक व्यक्ति उस संपत्ति के स्वामित्व का हकदार है जो कुछ सपत्ति उसने (वैध रूप से) अर्जित की है.....।'
>
> अतः इसका अर्थ यह है कि उन्हें अनुच्छेद 1 के अधीन ऐसी संपत्ति पर स्वामित्व का अधिकार नहीं है जो अवैध रूप से अर्जित की गई है । इस मुद्दे पर गिलीगन **बनाम** दि क्रिमिनल एसेट्स ब्यूरो वाले मामले में आइरिश उच्च न्यायालय में बहस की गई थी, अर्थात्, यह कि जहां किसी प्रतिवादी का ऐसी आस्तियों पर कब्जा या नियंत्रण है जो प्रत्यक्षतः या अप्रत्यक्षतः अपराध की उपज हैं वहां उन आस्तियों पर उसका कोई सांपत्तिक अधिकार नहीं होता है और न ही उन पर कोई विधिमान्य हक होता है चाहे उसे आइरिश संविधान द्वारा या किसी अन्य विधि द्वारा संरक्षण प्राप्त क्यों न हो । ऐसा प्रतीत होता है कि इसी प्रकार का मत वेल्च **बनाम** यूनाइटेड किंगडम वाले मामले में विसम्मत राय में पहले ही अभिव्यक्त किया गया है : मेरी राय में, अपराध द्वारा अर्जित संपत्ति का अधिहरण, चाहे वह अभिव्यक्त पूर्व विधान के बिना हो, न तो कन्वेंशन के अनुच्छेद 7 के और न ही फर्स्ट प्रोटोकोल के अनुच्छेद 1 के प्रतिकूल है । इस सिद्धांत की अमेरिकी विधिशास्त्र में भी छानबीन की गई है । यूनाइटेड स्टेट्स **बनाम** वेनहोर्न वाले मामले में कपट और धनशोधन में दोषसिद्ध प्रतिवादी अभिगृहीत आगमों को वापस प्राप्त करने का हकदार नहीं था क्योंकि वे विनिषिद्ध पदार्थों की कोटि में आते थे जिन्हें धारित करने का उसे अधिकार नहीं था । यूनाइटेड स्टेट्स **बनाम** डसेनबेरी वाले मामले में न्यायालय ने यह अभिनिर्धारित किया कि क्योंकि प्रत्यर्थी ने यह स्वीकार किया है कि उसने कार और अन्य व्यक्तिगत संपत्ति का क्रय करने में मादक द्रव्यों के आगमों का उपयोग किया था इसलिए उस

संपत्ति में उसका स्वामित्व संबंधी कोई हित नहीं था और इस प्रकार वह सरकार के इस विनिश्चय के विरुद्ध उपचार की ईप्सा नहीं कर सकता था कि औपचारिक समपहरण कार्यवाहियों का अवलंब लिए बिना संपत्ति को नष्ट कर दिया जाए । यूनाइटेड किंगडम सरकार ने विवक्षित रूप से इस परिप्रेक्ष्य को अंगीकार किया और यह कहा –

> '... सिविल प्रत्युद्धरण के प्रयोजन को ध्यान में रखना आवश्यक है, अर्थात् सिविल विधि के रूप में यह साबित करना कि उस संपत्ति का उपभोग करने का कोई अधिकार नहीं है जो अविधिपूर्ण आचरण से व्युत्पन्न की गई है' ।"

43. अदोषसिद्धि पर आधारित आस्ति समपहरण प्रतिमान, जो सिविल समपहरण विधान के रूप में भी जाना जाता है, विभिन्न देशों : यूनाइटेड स्टेट्स आफ अमेरिका, इटली, आयरलैंड, दक्षिणी अफ्रीका, यू. के. आस्ट्रेलिया और कनाडा के कतिपय प्रांतों में प्रचलन में आ गया ।

44. एंथोनी केनेडी ने सिविल समपहरण पद्धति की परिकल्पना निम्नलिखित शब्दों में की :–

> "सिविल समपहरण, न्याय के लिए अपराध और दंड प्रतिमान से न्याय के निवारक प्रतिमान की ओर गतिमान होने का द्योतक है । इसमें अवैध रूप से अभिप्राप्त की गई संपत्ति को संगठित अपराध करने वाले व्यक्तियों के कब्जे से वापस लेने की ईप्सा की गई है जिससे कि उन्हें प्रथमतः उसका उपयोग आगामी अपराधों के लिए कामकाज पूंजी के रूप में करने और द्वितीयतः ऐसी रीति में उद्भूत होने से निवारित किया जा सके जिससे कि वे ऐसे अन्य व्यक्तियों के लिए अनुकरणीय बन जाएं जो अर्जनशील अपराध की जीवनशैली अपनाते हैं । अतः, सिविल प्रत्युद्धरण का उद्देश्य व्यवहार को दांडिक करना नहीं है बल्कि उसका उद्देश्य पूर्व आपराधिक व्यवहार की निशानियों और आगे दांडिक व्यवहार करने के माध्यमों को हटाना है । जबकि यह स्पष्ट रूप से अधिक वांछनीय होगा यदि सफल दांडिक कार्यवाहियां संस्थित की जा सकती हैं किन्तु महत्वपूर्ण सिद्धांत यह है कि सारी से आधी भली ।"

45. ऊपर उल्लिखित समस्त कारणों से हमारी यह राय है कि अधिनियम द्वारा संविधान के अनुच्छेद 20 का अतिक्रमण नहीं होता है । अन्यथा भी, जैसा कि विद्वान् अपर महासालिसिटर द्वारा ठीक ही इंगित

किया गया है, अधिनियम को नवीं अनुसूची में शामिल किए जाने के कारण वह इस आधार पर चुनौती दिए जाने से उन्मुक्त है कि इससे अनुच्छेद 31-ख के अधीन घोषणा के आधार पर संविधान के भाग 3 के अधीन गारंटीकृत किन्हीं अधिकारों का अतिक्रमण होता है ।

46. अब हमें अनुकल्पी और अंतिम दलील पर विचार करना है, अर्थात् उच्च न्यायालय द्वारा अपील अधिकरण द्वारा यथा-अभिपुष्ट समपहरण के आदेश की मान्यता की परीक्षा करने में असफल रहने पर यह मामला समुचित रूप से विचार करने के लिए उच्च न्यायालय को प्रतिप्रेषित किया जाना चाहिए । यह दलील नामंजूर की जानी है । हमने उस रिट याचिका की प्रति का (जिसकी प्रति अभिलेख पर उपलब्ध है) परिशीलन किया है जिससे वर्तमान अपील उद्भूत हुई है ।

47. रिट याचिका में, इस निर्णय में इससे पूर्ण चर्चा किए गए दो विधिक आधारों पर समपहरण के आदेश को चुनौती देने के सिवाय ऐसा कोई आधार नहीं है जिस पर समपहरण के आदेश की शुद्धता को चुनौती दी गई हो । इस अपील में प्रथम बार यह तर्क देने का प्रयास किया गया है कि सक्षम प्राधिकारी द्वारा निकाले गए ये निष्कर्ष कि समपहृत संपत्तियां अवैध रूप से अर्जित की गई हैं - अपीलार्थी की प्रतिरक्षा का समुचित अधिमूल्यन करने पर न्यायोचित नहीं है । दूसरे शब्दों में, अपीलार्थी ने रिट याचिका में कोई समुचित अभिवाक् किए बिना भी साक्ष्य के पुनर्मूल्यांकन की ईप्सा की है । यह अलग बात है कि उच्च न्यायालय अपनी रिट अधिकारिता का प्रयोग करते हुए सामान्यतः साक्ष्य का पुनर्मूल्यांकन नहीं करता है । हमें किसी भी दृष्टिकोण से मामला उच्च न्यायालय को प्रतिप्रेषित करने का कोई कारण प्रतीत नहीं होता है ।

48. परिणामतः, अपीलों में कोई सार न होने के कारण वे खारिज की जाती हैं ।

अपीलें खारिज की गईं ।

ग्रो.

[2014] 2 उम. नि. प. 125

मोंटफोर्ड ब्रदर्स आफ सेंट गेबरियल और एक अन्य

बनाम

यूनाइटेड इंडिया इंश्योरेंस और एक अन्य आदि

28 जनवरी, 2014

मुख्य न्यायमूर्ति सतशिवम्, न्यायमूर्ति रंजन गोगोई और न्यायमूर्ति शिव कीर्ति सिंह

मोटर यान अधिनियम, 1988 (1988 का 59) – धारा 166 [सपठित सिविल प्रक्रिया संहिता, 1908 की धारा 2(11) और मिज़ोरम मोटर दुर्घटना दावा अधिकरण नियम, 1988 का नियम 2] – प्रतिकर – मृतक का एक पूर्त सोसाइटी से जुड़ने के पश्चात् अपने नैसर्गिक कुटुम्ब से संबंध तोड़ देना – विधिक प्रतिनिधि – बीमा कंपनी द्वारा सोसाइटी की ओर से किए गए दावे की संधार्यता के बारे में कोई आक्षेप न करना – अधिकरण के अधिनिर्णय को रिट याचिका द्वारा उच्च न्यायालय में चुनौती देना – चूंकि बीमा कंपनी द्वारा अधिकरण के समक्ष दावेदारों के विधिक प्रतिनिधि न होने के संबंध में कोई आक्षेप नहीं किया गया था और न ही कोई साक्ष्य प्रस्तुत किया गया था, इसलिए उच्च न्यायालय तथ्य संबंधी इस विवाद्यक को प्रथम बार रिट याचिका में विनिश्चित नहीं कर सकता था ।

मामले के तथ्यों के अनुसार, अपीलार्थी सं. 1 सोसाइटी रजिस्ट्रीकरण अधिनियम के अधीन रजिस्ट्रीकृत एक पूर्त सोसाइटी है । यह विभिन्न अनाथालयों, औद्योगिक विद्यालयों और समाज सेवा के अन्य कार्यकलापों के अतिरिक्त अनेक शैक्षणिक विद्यालय/संस्थान चलाती है । सोसाइटी से जुड़ जाने के पश्चात् इसके सदस्य संसार का त्याग कर देते हैं और "ब्रदर" के रूप में जाने जाते हैं । ऐसा "ब्रदर" नैसर्गिक परिवार से अपने सभी संबंध तोड़ लेता है और सोसाइटी के संविधान से आबद्ध होता है । सोसाइटी के संविधान के अनुसार "ब्रदर" की सभी प्रकार की कमाई, जिसमें बीमा भी सम्मिलित है, सोसाइटी के सामान्य कोष में चली जाती है । सोसाइटी का एक "ब्रदर" अर्थात् एलेक्स चेंडी थॉमस सेंट पीटर उच्च विद्यालय का निदेशक-सह-मुख्य अध्यापक था और उसकी एक मोटर दुर्घटना में मृत्यु हो गई । दुर्घटना मृतक द्वारा चलाई जा रही जीप और एक

मारूति जिप्सी, जो प्रत्यर्थी बीमा कंपनी द्वारा जारी की गई बीमा पालिसी से कवर थी, के बीच हुई थी । अपीलार्थी सं. 1 सोसाइटी द्वारा सम्यक् रूप से प्राधिकृत करने पर अपीलार्थी सं. 2, जो सेंट पॉल उच्चतर माध्यमिक विद्यालय, ऐज़वाल, मिज़ोरम का प्रधानाचार्य था, द्वारा मोटर दुर्घटना दावा अधिकरण के समक्ष प्रतिकर के लिए दावा याचिका फाइल की गई । जिप्सी यान के स्वामी ने अपने लिखित कथन में यह अभिवाक् किया कि यान सम्यक् रूप से बीमित था और इसलिए यदि कोई दायित्व बनता है तो वह बीमा कंपनी पर है । प्रत्यर्थी-बीमा कंपनी ने भी एक लिखित कथन फाइल किया और तद्द्वारा दावे के प्रति विभिन्न आक्षेप किए । किंतु बीमा कंपनी ने कभी भी यह मुद्दा नहीं उठाया कि चूंकि मृतक एक "ब्रदर" था और इसलिए अपीलार्थी किसी परिवार या उत्तराधिकारी के बिना सुने जाने के अधिकार के अभाव में दावा याचिका फाइल नहीं कर सकता है । प्रत्यर्थी-बीमा कंपनी द्वारा दावा याचिका की संधार्यता से संबंधित मुद्दे पर जोर नहीं दिया गया । अधिकरण ने दावेदार के पक्ष में और विरोधी पक्षकारों के विरुद्ध प्रतिकर अधिनिर्णीत किया । प्रत्यर्थी-बीमा कंपनी ने अधिकरण के आदेश के विरुद्ध अपील फाइल करने के बजाए भारत के संविधान के अनुच्छेद 226 के अधीन गुवाहाटी उच्च न्यायालय के समक्ष एक रिट याचिका फाइल की और उच्च न्यायालय ने रिट याचिका को यह मत व्यक्त करते हुए मंजूर किया कि दावेदार मोटर यान अधिनियम के अधीन प्रतिकर का दावा करने के लिए सक्षम नहीं थे । दावेदार-अपीलार्थियों द्वारा पुनरीक्षण याचिका फाइल की गई जो उच्च न्यायालय द्वारा नामंजूर कर दी गई । दावेदारों द्वारा उच्च न्यायालय के निर्णय और आदेश के विरुद्ध उच्चतम न्यायालय में अपील फाइल की गई । उच्चतम न्यायालय द्वारा अपीलें मंजूर करते हुए,

अभिनिर्धारित – मोटर यान दावा अधिकरण के समक्ष कार्यवाही एक संक्षिप्त कार्यवाही होती है और जब तक ऐसे अभिवाक् के समर्थन में साक्ष्य न हो कि दावेदार विधिक प्रतिनिधि नहीं है और इसलिए दावा याचिका संधार्य न होने के कारण खारिज कर दी जाए, तब तक किसी पश्चात्वर्ती प्रक्रम पर यह अभिवाक् नहीं किया जा सकता है और रिट याचिका के माध्यम से भी नहीं । बीमा कंपनी द्वारा फाइल किए गए आक्षेप में, जो उपाबंध पी 2 में अंतर्विष्ट है, ऐसा कोई आक्षेप नहीं किया गया है और न ही इस मुद्दे पर प्रस्तुत किया गया कोई साक्ष्य है । जैसाकि पहले ही उल्लेख किया गया है, अधिकरण ने दावा याचिका की विधि और तथ्य के

आधार पर संधार्यता के संबंध में मुद्दा सं. 1 के रूप में मुद्दा विरचित किया था, किंतु पेपर-बुक के पृष्ठ 41 पर अधिकरण द्वारा अभिलिखित किए गए निष्कर्ष से यह दर्शित होता है कि विरोधी पक्षकार ने विचारण के दौरान मुद्दा सं. 2 और 3 के साथ-साथ इस मुद्दे पर जोर नहीं दिया गया था और तद्नुसार ये दावेदारों के पक्ष में विनिश्चित किए गए थे । पूर्वोक्त परिस्थितियों में, उच्च न्यायालय द्वारा रिट याचिका मंजूर करते हुए तारीख 20 अगस्त, 2002 को पारित अपीलाधीन आदेश अधिकरण द्वारा विनिश्चित किए गए सुसंगत मुद्दे और साथ ही इस तथ्य की अवेक्षा न करने की स्पष्ट गलती से ग्रस्त है कि बीमा कंपनी, जोकि रिट याची थी, ने इस मुद्दे पर जोर नहीं दिया था । उसने उक्त मुद्दे के लिए न तो अभिवचन किए थे और न ही सुसंगत साक्ष्य प्रस्तुत किया था । अधिकरण के निर्णय और आदेश के परिशीलन से यह प्रकट होता है कि यद्यपि मुद्दा सं. 1 पर जोर नहीं दिया गया था और इसलिए इसे दावेदार/अपीलार्थियों के पक्ष में विनिश्चित किया गया था, तो भी दावेदारों के लिए प्रतिकर की मात्रा पर विचार करते हुए अधिकरण ने एक अति सचेत दृष्टिकोण अपनाया और स्वयं के लिए एक प्रश्न विरचित किया कि ऐसे मामले में प्रतिकर का निर्धारण करने के लिए क्या मानदंड होना चाहिए, जहां मृतक एक रोमन कैथोलिक था और अपने परिवार का परित्याग करने के पश्चात् चर्च की सेवा ग्रहण कर ली थी और इसलिए उसका कोई वास्तविक आश्रित नहीं था या कमाई नहीं थी । अधिकरण ने इस प्रश्न का उत्तर देने के लिए न केवल अमेरिका और अंग्रेजी न्यायालयों के निर्णयों का अवलंब लिया, अपितु इस निष्कर्ष पर पहुंचने के लिए भारतीय निर्णयों का भी अवलंब लिया कि एक धार्मिक पंथ या संस्था के किसी स्वैच्छिक कार्यकर्ता की मृत्यु के कारण पर्याप्त हानि हो सकती है । अधिकरण ने यह विनिश्चय करने के लिए भी विचार किया कि मृतक के विधिक प्रतिनिधि के रूप में प्रतिकर के लिए कौन हकदार होना चाहिए और इस प्रयोजन के लिए उसने पटना उच्च न्यायालय की पूर्ण न्यायपीठ के एक निर्णय का अवलंब लिया, जिसमें यह अभिनिर्धारित किया गया है कि "विधिक प्रतिनिधि" पद काफी व्यापक है जिसमें किसी मृतक की संपदा में दखलांदाजी करने वाले व्यक्ति भी सम्मिलित हैं । अधिकरण ने कुछ भारतीय निर्णयों को भी निर्दिष्ट किया, जिनमें यह अभिनिर्धारित किया गया था कि न्यासिता और न्यास संपत्ति के उत्तराधिकारी सिविल प्रक्रिया संहिता की धारा 2(11) के अर्थांतर्गत विधिक प्रतिनिधि हैं । पूर्वोक्त चर्चा को ध्यान में रखते हुए,

न्यायालय को यह अभिनिर्धारित करने में कोई संकोच नहीं है कि उच्च न्यायालय ने इस तथ्य की अनदेखी करते हुए कि प्रत्यर्थी-बीमा कंपनी ने मुद्दा सं. 1 पर जोर नहीं दिया था और न ही उसने उक्त मुद्दे की बाबत अभिवचन किया था और न ही साक्ष्य प्रस्तुत किया था, विद्वान् अधिकरण के निर्णय को अपास्त करके विधि की दृष्टि से गलती की है । उच्च न्यायालय ने यह स्पष्ट किया कि अपीलार्थी मृतक के विधिक प्रतिनिधि नहीं हैं । उच्च न्यायालय द्वारा तथ्य का ऐसा मुद्दा पहली बार रिट याचिका में विनिश्चित नहीं किया जा सकता था और इसे केवल सीमित प्रयोजन के लिए संविधान के अनुच्छेद 227 के अधीन ही ग्रहण किया जा सकता था । (पैरा 13, 14, 16 और 17)

निर्दिष्ट निर्णय

पैरा

[1988] [1988] 1 उम. नि. प. 681 = ए. आई. आर. 1987 एस. सी. 1690 : **गुजरात राज्य सड़क परिवहन निगम, अहमदाबाद** बनाम **रमन भाई प्रभातभाई और एक अन्य** ; 11

[1987] ए. आई. आर. 1987 पटना 239 : **सुदामा देवी और अन्य** बनाम **जोगेन्द्र चौधरी और अन्य** । 16

अपीली (सिविल) अधिकरिता : 2007 की सिविल अपील सं. 3269-3270.

2002 की रिट याचिका सं. 20 में असम, नागालैंड, मेघालय, मणीपुर, त्रिपुरा, मिजोरम तथा अरुणाचल प्रदेश, ऐजवाल न्यायपीठ के तारीख 20 अगस्त, 2002 के निर्णय और आदेश के विरुद्ध अपील ।

अपीलार्थियों की ओर से सर्वश्री अश्विनी कुमार और कुलजीत रावल

प्रत्यर्थियों की ओर से सर्वश्री वी. एस. चोपड़ा, सुश्री मनजीत चावला, के. एन. मधुसूदन और आर. सतीश

न्यायालय का निर्णय न्यायमूर्ति शिव कीर्ति सिंह ने दिया ।

न्या. सिंह – अपीलार्थियों और प्रत्यर्थी-बीमा कंपनी की ओर से विद्वान् काउंसेलों को सुना ।

2. इस अपील का विनिश्चय करने के लिए सुसंगत तथ्य विवादग्रस्त नहीं है और इसलिए उनका केवल संक्षेप में उल्लेख किया जा रहा है ।

3. अपीलार्थी सं. 1 सोसाइटी रजिस्ट्रीकरण अधिनियम, 1860 के अधीन रजिस्ट्रीकृत एक पूर्त सोसाइटी है । यह कैथोलिक चर्च की एक घटक इकाई के रूप में विभिन्न संस्थाएं चलाती हैं । यह विभिन्न अनाथालयों, औद्योगिक विद्यालयों और समाज सेवा के अन्य कार्यकलापों के अतिरिक्त अनेक शैक्षणिक विद्यालय/संस्थाएं चला रही हैं । अपीलार्थी सोसाइटी से जुड़ जाने के पश्चात् इसके सदस्य संसार का त्याग कर देते हैं और "ब्रदर" के रूप में जाने जाते हैं । ऐसा "ब्रदर" नैसर्गिक परिवार से अपने सभी संबंध तोड़ लेता है और सोसाइटी के संविधान से आबद्ध होता है जिसमें अनुच्छेद 60 भी सम्मिलित है, जो 2002 की पुनरीक्षण याचिका सं. 4 में तारीख 10 दिसम्बर, 2003 को पारित आदेश के पैरा 3 और उपाबंध पी 5 में इस प्रकार उद्धृत है :–

> "'ब्रदर' जो कुछ भी वेतन, सहायकियों, दानों, पेंशन के द्वारा या बीमा से या अन्य ऐसे फायदे जो समुदाय से संबंधित हैं, साधिकार प्राप्त करता है और वह सामान्य कोष में चला जाता है ।"

4. अपीलार्थी सं. 2 सेंट पॉल उच्चतर माध्यमिक विद्यालय, ऐज़वाल, मिज़ोरम का प्रधानाचार्य है और अपीलार्थी सं. 1 का प्रतिनिधित्व भी करता है ।

5. सोसाइटी का एक "ब्रदर" अर्थात् एलेक्स चेंडी थॉमस सेंट पीटर उच्च विद्यालय का निदेशक-सह-मुख्य अध्यापक था और उसकी तारीख 22 जून, 1992 को एक मोटर दुर्घटना में मृत्यु हो गई । दुर्घटना मृतक द्वारा चलाई जा रही जीप और एक मारूति जिप्सी, जो प्रत्यर्थी बीमा कंपनी द्वारा जारी की गई बीमा पालिसी से कवर थी, के बीच हुई थी । मृत्यु के समय मृतक की आयु 34 वर्ष थी और 4,190/- रुपए मासिक वेतन ले रहा था । अपीलार्थी सं. 1 सोसाइटी द्वारा सम्यक् रूप से प्राधिकृत करने पर अपीलार्थी सं. 2 द्वारा मोटर दुर्घटना दावा अधिकरण के समक्ष 1992 की दावा याचिका सं. 55 फाइल की गई । जिप्सी यान के स्वामी ने अपने लिखित कथन में यह वादानुवाद किया कि यान सम्यक् रूप से बीमित था

और इसलिए दायित्व, यदि कोई है, बीमा कंपनी पर है । प्रत्यर्थी-बीमा कंपनी ने भी एक लिखित कथन फाइल किया और तद्द्वारा दावे के प्रति विभिन्न आक्षेप किए । किंतु जैसाकि उपाबद्ध पी-2 पर लिखित कथन से स्पष्ट होता है कि बीमा कंपनी ने कभी भी यह मुद्दा नहीं उठाया कि चूंकि मृतक एक "ब्रदर" था और इसलिए अपीलार्थी किसी परिवार या उत्तराधिकारी के बिना सुने जाने के अधिकार के अभाव में दावा याचिका फाइल नहीं कर सकता है । प्रत्यर्थियों द्वारा दावा याचिका की संधार्यता से संबंधित मुद्दा सं. 1 पर जोर नहीं दिया गया । अधिकरण ने दावेदार के पक्ष में और विरोधी पक्षकारों के विरुद्ध 2,52,000/- रुपए का प्रतिकर अधिनिर्णीत किया और बीमाकर्ता को अधिकरण के पास 2,27,000/- रुपए जमा करने का निदेश दिया क्योंकि 25,000/- रुपए पहले ही अंतरिम प्रतिकर के रूप में जमा कर दिए गए थे । अधिकरण ने 12 प्रतिशत वार्षिक की दर से ब्याज भी, किंतु 1992 के मोटर दुर्घटना दावा अधिकरण मामला सं. 55 और 82 में तारीख 14 जुलाई, 1994 को पारित निर्णय की तारीख से, अनुज्ञात किया ।

6. प्रत्यर्थी-कंपनी ने अधिकरण के आदेश के विरुद्ध अपील फाइल करने के बजाए भारत के संविधान के अनुच्छेद 226 के अधीन गुवाहाटी उच्च न्यायालय के समक्ष एक रिट याचिका फाइल की और उच्च न्यायालय ने तारीख 20 अगस्त, 2002 के अपीलाधीन आक्षेपित आदेश द्वारा पूर्वोक्त 2002 की रिट याचिका (सिविल) सं. 20 एकपक्षीय रूप में मंजूर की और विद्वान् अधिकरण के निर्णय और आदेश को ऐसे व्यक्ति/व्यक्तियों के पक्ष में होने के कारण अविधिमान्य और अक्षम ठहराया, जो, उच्च न्यायालय के अनुसार, मोटर यान अधिनियम के अधीन प्रतिकर का दावा करने के लिए सक्षम नहीं थे । अधिकरण के निर्णय और पंचाट को चुनौती देने का एकमात्र यही आधार था । तथापि, उच्च न्यायालय ने प्रतिकर के रूप में पहले ही अधिनिर्णीत किए गए 25,000/- रुपए के पंचाट को भंग नहीं किया । अपीलार्थियों द्वारा फाइल की गई पुनरीक्षण याचिका भी, किंतु अपीलार्थियों के सुने जाने के अधिकार से संबंधित सुसंगत तथ्यों की अवेक्षा करने के पश्चात्, तारीख 10 दिसम्बर, 2003 को नामंजूर कर दी गई ।

7. ऊपर उल्लिखित तथ्यों से यह स्पष्ट है कि अधिकरण द्वारा अवधारित की गई प्रतिकर की मात्रा के विषय में पक्षकारों के बीच कोई

विवाद नहीं है और एकमात्र मुद्दा यह है कि क्या उच्च न्यायालय ने यह अभिनिर्धारित करके विधि के अनुसार सही किया है कि अपीलार्थी-सोसाइटी से संबंधित 'ब्रदर' की दुर्घटना में हुई मृत्यु के लिए अपीलार्थी मोटर यान अधिनियम के अधीन प्रतिकर का दावा करने के लिए सक्षम नहीं हैं ।

8. ऊपर उल्लिखित एकमात्र मुद्दे के लिए मोटर यान अधिनियम, 1988 (जिसे इसमें इसके पश्चात् "अधिनियम" कहा गया है) की धारा 166 पर दृष्टिपात करना आवश्यक है । इस प्रयोजन के लिए धारा 166 की उपधारा (1) सुसंगत है । इस धारा में इस प्रकार उपबंधित है :–

> "166. प्रतिकर के लिए आवेदन – (1) धारा 165 की उपधारा (1) में विनिर्दिष्ट प्रकार की दुर्घटना से उद्भूत प्रतिकर के लिए आवेदन निम्नलिखित द्वारा किया जा सकेगा, अर्थात् –
>
> (क) उस व्यक्ति द्वारा, जिसे क्षति हुई है ; या
>
> (ख) संपत्ति के स्वामी द्वारा ; या
>
> (ग) जब दुर्घटना के परिणामस्वरूप मृत्यु हुई है, तब मृतक के सभी या किसी विधिक प्रतिनिधि द्वारा ; या
>
> (घ) जिस व्यक्ति को क्षति पहुंची है उसके द्वारा अथवा सम्यक् रूप से प्राधिकृत किसी अभिकर्ता द्वारा अथवा मृतक के सभी या किसी विधिक प्रतिनिधि द्वारा :
>
> परन्तु जहां प्रतिकर के लिए किसी आवेदन में मृतक के सभी विधिक प्रतिनिधि सम्मिलित नहीं हुए हैं वहां वह आवेदन मृतक के सभी विधिक प्रतिनिधियों की ओर से या उनके फायदे के लिए किया जाएगा और जो विधिक प्रतिनिधि ऐसे सम्मिलित नहीं हुए हैं, उन्हें आवेदन के प्रत्यर्थियों के रूप में पक्षकार बनाया जाएगा ।"

9. अधिनियम में 'विधिक प्रतिनिधि' पद को परिभाषित नहीं किया गया है किंतु अधिकरण ने अपने निर्णय और आदेश में यह उल्लेख किया है कि मिज़ोरम मोटर दुर्घटना दावा अधिकरण नियम, 1988 के नियम 2 के खंड (ग) में 'विधिक प्रतिनिधि' पद को उसी अर्थ के रूप में परिभाषित किया गया है जैसाकि इसे सिविल प्रक्रिया संहिता, 1908 की धारा 2 के खंड (11) में दिया गया है, जो निम्नलिखित है :–

> "धारा 2 (11). 'विधिक प्रतिनिधि' से व्यक्ति अभिप्रेत है जो

मृत व्यक्ति की सम्पदा का विधि की दृष्टि से प्रतिनिधित्व करता है और इसके अन्तर्गत कोई ऐसा व्यक्ति आता है जो मृतक की सम्पदा में दखलांदाजी करता है और जहां कोई पक्षकार प्रतिनिधि रूप में वाद लाता है या जहां किसी पक्षकार पर प्रतिनिधि रूप में वाद लाया जाता है वहां वह व्यक्ति इसके अंतर्गत आता है जिसे वह सम्पदा उस पक्षकार के मरने पर न्यागत होती है, जो इस प्रकार वाद लाया है या जिस पर इस प्रकार वाद लाया गया है ।"

10. पूर्वोक्त उपबंधों से यह स्पष्ट है कि किसी व्यक्ति की मोटर यान दुर्घटना में मृत्यु की दशा में, मृतक के किसी विधिक प्रतिनिधि या विधिक प्रतिनिधि के किसी अभिकर्ता को अधिनियम के उपबंधों के अधीन प्रतिकर के लिए दावा दाखिल करने का अधिकार उपलब्ध है । यह मुद्दा कि विधिक प्रतिनिधि या उसका अभिकर्ता कौन है, बुनियादी तौर पर एक तथ्य का मुद्दा है और विशिष्ट मामले के तथ्यों पर निर्भर करते हुए एक या अन्य रीति में विनिश्चित किया जा सकता है । किंतु विधिक प्रतिपादना के रूप में यह सुस्पष्ट है कि विधिक प्रतिनिधि होने का दावा करने वाले व्यक्ति को या तो प्रत्यक्ष रूप से या किसी अभिकर्ता के माध्यम से, इस मुद्दे पर दूसरे पक्ष द्वारा उठाए गए विवाद के परिणाम के अध्यधीन रहते हुए, अधिनियम की धारा 166 के अधीन प्रतिकर के लिए आवेदन बनाए रखने के लिए सुने जाने का अधिकार है ।

11. बीमा कंपनी की ओर से विद्वान् काउंसेल ने हमें इस बात के लिए मनाने की कोशिश की कि चूंकि अधिनियम में 'विधिक प्रतिनिधि' पद को परिभाषित नहीं किया गया है, इसलिए घातक दुर्घटना अधिनियम, 1885 की धारा 1-क के उपबंध को मार्गदर्शक सिद्धांत के रूप में लिया जाना चाहिए और दावा उस व्यक्ति, जिसकी दुघर्टना से मृत्यु हुई है, की पत्नी, पति, माता-पिता और बच्चे, यदि कोई है, के फायदे तक ही सीमित होना चाहिए । इस संदर्भ में, उसने **गुजरात राज्य सड़क परिवहन निगम, अहमदाबाद** बनाम **रमन भाई प्रभातभाई और एक अन्य**[1] वाले मामले में इस न्यायालय के निर्णय को उद्धृत किया । उस मामले में, मोटर यान अधिनियम, 1939 द्वारा कवर होने पर दावेदार एक मोटर यान दुर्घटना में मारे गए मृतक का भाई था । न्यायालय ने अपीलार्थी की इस दलील को नामंजूर कर दिया कि चूंकि मोटर यान अधिनियम के अधीन 'विधिक

[1] [1988] 1 उम. नि. प. 681 = ए. आई. आर. 1987 एस. सी. 1690.

प्रतिनिधि' पद परिभाषित नहीं किया गया है, इसलिए दावा फाइल करने का अधिकार घातक दुर्घटना अधिनियम के उपबंधों द्वारा नियंत्रित होना चाहिए । विनिर्दिष्ट रूप से यह अभिनिर्धारित किया गया कि मोटर यान अधिनियम प्रतिकर हेतु आवेदन फाइल करने के लिए नया और विस्तृत अधिकार सृजित करता है और ऐसे अधिकार को घातक दुर्घटना अधिनियम के अधीन कार्रवाई की परिसीमाओं तक सीमित नहीं किया जा सकता है । रिपोर्ट का पैरा 11 उस सही पथ-प्रदर्शक सिद्धांत को प्रस्तुत करता है जिससे न्यायालयों को उन व्यक्तियों के लिए, जिन्हें हानि हुई है, प्रतिकर प्रदान करने हेतु बनाए गए फायदेप्रद विधायनों के विधिक उपबंधों का निर्वचन करने के लिए मार्गदर्शित होना चाहिए ।

> "11. हम यह महसूस करते हैं कि गुजरात उच्च न्यायालय द्वारा अपनाया गया मत भारतीय समाज की परिस्थितियों को देखते हुए न्याय, साम्या और शुद्ध अंतःकरण के सिद्धांतों के अनुरूप है । प्रत्येक विधिक प्रतिनिधि को, जिसे मोटर यान दुर्घटना में किसी व्यक्ति की मृत्यु होने के कारण क्षति पहुंचती है, प्रतिकर वसूल करने का उपचार प्राप्त होना चाहिए और यही अधिनियम की धारा 110-क से 110-च में उपबंधित है । ये उपबंध अपकृत्य विधि के इन सिद्धांतों के अनुरूप हैं कि प्रत्येक क्षति का अवश्य ही उपचार होना चाहिए । ऐसे प्रतिकर का अवधारण करना जो मोटर यान दुर्घटना अधिकरण को अधिनियम की धारा 110-ख में यथा उपबंधित रूप से न्यायसंगत प्रतीत हो और उस व्यक्ति या उन व्यक्तियों को विनिर्दिष्ट करना उसका कर्तव्य है जिन्हें प्रतिकर का संदाय किया जाएगा । संदेय प्रतिकर का अवधारण और अधिनियम की धारा 110-ख द्वारा यथा अपेक्षित रूप में इसका उन विधिक प्रतिनिधियों में प्रभाजन, जिनके फायदे के लिए अधिनियम की धारा 110-क के अधीन आवेदन फाइल किया जा सकता है, विधि के सुविदित सिद्धांतों के अनुसार किया जाना चाहिए । हमें यह नहीं भूलना चाहिए कि भारतीय कुटुंब में भाई, बहिन और भाइयों की संतान और कभी-कभी पोष्य संतान भी एक साथ रहते हैं और वे कुटुंब के पालनकर्ता पर आश्रित होते हैं और यदि किसी मोटर यान दुर्घटना के कारण पालनकर्ता की मृत्यु हो जाती है, तो घातक दुर्घटना अधिनियम, 1855 के उन उपबंधों का अवलंब लेते हुए उन्हें प्रतिकर न देने का कोई न्यायोचित्य नहीं है जिनका हम पहले ही उल्लेख कर चुके हैं और जिनमें मोटर यान

दुर्घटनाओं से उद्भूत मामलों के संबंध में अधिनियम में अंतर्विष्ट उपबंधों द्वारा व्यापक रूप में उपांतरण किया जा चुका है । हम मेघजीभाई खीमजी वीर और एक अन्य **बनाम** चतुरभाई तलजाभाई और अन्य (ए. आई. आर. 1977 गुजरात 195) वाले मामले के विनिश्चय का अनुमोदन करते हैं और यह अभिनिर्धारित करते हैं कि ऐसे किसी व्यक्ति का भाई जिसका किसी मोटर यान दुर्घटना में मृत्यु हो जाती है, अधिनियम की धारा 110-क के अधीन उसी प्रकार याचिका दायर करने का हकदार होगा मानो कि वह मृतक का विधिक प्रतिनिधि हो ।"

12. पूर्वोक्त उद्धृत उद्धरण से यह स्पष्ट है कि केवल यदि न्याय, साम्या और शुद्ध अंतःकरण के सिद्धांतों के अनुरूप न्यायोचित्य है, तो मृतक के आश्रित को प्रतिकर का दावा करने के अधिकार से इनकार किया जा सकता है । इसलिए हम प्रत्यर्थी-बीमा कंपनी की ओर से दी गई इस दलील में गुणागुण नहीं पाते हैं कि दावा याचिका घातक दुर्घटना अधिनियम के उपबंधों के कारण संधार्य नहीं है ।

13. अपीलार्थियों की ओर से ठीक ही यह दलील दी गई है कि मोटर यान दावा अधिकरण के समक्ष कार्यवाही एक संक्षिप्त कार्यवाही होती है और जब तक ऐसे अभिवाक् के समर्थन में साक्ष्य न हो कि दावेदार विधिक प्रतिनिधि नहीं है और इसलिए दावा याचिका संधार्य न होने के कारण खारिज कर दी जाए, तब तक किसी पश्चात्वर्ती प्रक्रम पर यह अभिवाक् नहीं किया जा सकता है और रिट याचिका के माध्यम से भी नहीं । बीमा कंपनी द्वारा फाइल किए गए आक्षेप में, जो उपाबंध पी-2 में अंतर्विष्ट है, ऐसा कोई आक्षेप नहीं किया गया है और न ही इस मुद्दे पर प्रस्तुत किया गया कोई साक्ष्य है । जैसाकि पहले ही उल्लेख किया गया है, अधिकरण ने दावा याचिका की विधि और तथ्य के आधार पर संधार्यता के संबंध में मुद्दा सं. 1 के रूप में मुद्दा विरचित किया था, किंतु पेपर-बुक के पृष्ठ 41 पर अधिकरण द्वारा अभिलिखित किए गए निष्कर्ष से यह दर्शित होता है कि विरोधी पक्षकार ने विचारण के दौरान मुद्दा सं. 2 और 3 के साथ-साथ इस मुद्दे पर जोर नहीं दिया गया था और तद्नुसार ये दावेदारों के पक्ष में विनिश्चित किए गए थे ।

14. पूर्वोक्त परिस्थितियों में, उच्च न्यायालय द्वारा रिट याचिका मंजूर करते हुए तारीख 20 अगस्त, 2002 को पारित अपीलाधीन आदेश

अधिकरण द्वारा विनिश्चित किए गए सुसंगत मुद्दे और साथ ही इस तथ्य की अवेक्षा न करने की स्पष्ट गलती से ग्रस्त है कि बीमा कंपनी, जोकि रिट याची थी, ने इस मुद्दे पर जोर नहीं दिया था । उसने उक्त मुद्दे के लिए न तो अभिवचन किए थे और न ही सुसंगत साक्ष्य प्रस्तुत किया था ।

15. अपीलार्थियों ने उच्च न्यायालय के निर्णय के बारे में ज्ञात होने के पश्चात् एक पुनरीक्षण याचिका फाइल की, जिसमें उन्होंने सोसाइटी-अपीलार्थी सं. 1 के संविधान सहित सभी सुसंगत तथ्य अपने इस दावे के समर्थन में दिए कि सोसाइटी का 'ब्रदर' नैसर्गिक परिवार से अपने संबंधों का त्याग कर देता है और बीमा दावों सहित उसकी सभी कमाई और सामान सोसाइटी का होता है । उच्च न्यायालय द्वारा इन तथ्यों की उपेक्षा नहीं की जानी चाहिए थी, किंतु ऐसे तथ्यों की अवेक्षा करने के पश्चात् भी पुनरीक्षण याचिका नामंजूर कर दी गई ।

16. अधिकरण के निर्णय और आदेश के परिशीलन से यह प्रकट होता है कि यद्यपि मुद्दा सं. 1 पर जोर नहीं दिया गया था और इसलिए इसे दावेदार/अपीलार्थियों के पक्ष में विनिश्चित किया गया था, तो भी दावेदारों के लिए प्रतिकर की मात्रा पर विचार करते हुए अधिकरण ने एक अति सचेत दृष्टिकोण अपनाया और स्वयं के लिए एक प्रश्न विरचित किया कि ऐसे मामले में प्रतिकर का निर्धारण करने के लिए क्या मानदंड होना चाहिए, जहां मृतक एक रोमन कैथोलिक था और अपने परिवार का परित्याग करने के पश्चात् चर्च की सेवा ग्रहण कर ली थी और इसलिए उसका कोई वास्तविक आश्रित नहीं था या कमाई नहीं थी । अधिकरण ने इस प्रश्न का उत्तर देने के लिए न केवल अमेरिका और अंग्रेजी न्यायालयों के निर्णयों का अवलंब लिया, अपितु इस निष्कर्ष पर पहुंचने के लिए भारतीय निर्णयों का भी अवलंब लिया कि एक धार्मिक पंथ या संस्था के किसी स्वैच्छिक कार्यकर्ता की मृत्यु के कारण पर्याप्त हानि हो सकती है । अधिकरण ने यह विनिश्चय करने के लिए भी विचार किया कि मृतक के विधिक प्रतिनिधि के रूप में प्रतिकर के लिए कौन हकदार होना चाहिए और इस प्रयोजन के लिए उसने **सुदामा देवी और अन्य** बनाम **जोगेन्द्र चौधरी और अन्य**[1] वाले मामले में पटना उच्च न्यायालय की पूर्ण न्यायपीठ के निर्णय का अवलंब लिया, जिसमें यह अभिनिर्धारित किया गया है कि 'विधिक प्रतिनिधि' पद काफी व्यापक है जिसमें किसी मृतक की संपदा में

[1] ए. आई. आर. 1987 पटना 239.

दखलांदाजी करने वाले व्यक्ति भी सम्मिलित हैं । अधिकरण ने कुछ भारतीय निर्णयों को भी निर्दिष्ट किया, जिनमें यह अभिनिर्धारित किया गया था कि न्यासिता और न्यास संपत्ति के उत्तराधिकारी सिविल प्रक्रिया संहिता की धारा 2(11) के अर्थांतर्गत विधिक प्रतिनिधि हैं ।

17. पूर्वोक्त चर्चा को ध्यान में रखते हुए, हमें यह अभिनिर्धारित करने में कोई संकोच नहीं है कि उच्च न्यायालय ने इस तथ्य की अनदेखी करते हुए कि प्रत्यर्थी-बीमा कंपनी ने मुद्दा सं. 1 पर जोर नहीं दिया था और न ही उसने उक्त मुद्दे की बाबत अभिवचन किया था और साक्ष्य प्रस्तुत किया था, विद्वान् अधिकरण के निर्णय को अपास्त करके विधि की दृष्टि से गलती की है । न्यायालय ने यह स्पष्ट किया कि अपीलार्थी मृतक के विधिक प्रतिनिधि नहीं हैं । उच्च न्यायालय द्वारा तथ्य का ऐसा मुद्दा पहली बार रिट याचिका में विनिश्चित नहीं किया जा सकता था और इसे केवल सीमित प्रयोजन के लिए संविधान के अनुच्छेद 227 के अधीन ही ग्रहण किया जा सकता था ।

18. तद्नुसार, उच्च न्यायालय के तारीख 20 अगस्त, 2002 और तारीख 10 दिसम्बर, 2003 के आदेश अपास्त किए जाते हैं और अधिकरण का तारीख 14 जुलाई, 1994 का आदेश प्रत्यावर्तित किया जाता है । अधिकरण के निर्णय अनुसार भीतर प्रत्यर्थी-बीमा कंपनी द्वारा प्रतिकर का, ब्याज सहित, बकाया इस आदेश की तारीख से आठ सप्ताह के भीतर अधिकरण के पास जमा किया जाएगा । अधिकरण अपने आदेश को ध्यान में रखते हुए दावेदारों को इसे प्रत्याहृत करने के लिए अनुज्ञात करेगा ।

19. ये अपीलें ऊपर उपदर्शित सीमा तक मंजूर की जाती हैं । खर्चे के बारे में कोई आदेश नहीं किया जाता है ।

अपीलें मंजूर की गईं ।

जस.

———————

[2014] 2 उम. नि. प. 137

संजय कुमार

बनाम

बिहार राज्य और एक अन्य

28 जनवरी, 2014

न्यायमूर्ति बी. एस. चौहान, न्यायमूर्ति जे. चेलामेश्वर और न्यायमूर्ति एम. वाई. इकबाल

परक्राम्य लिखत अधिनियम, 1881 (1881 का 26) – धारा 138 – चैक का अनादरण – विधिक नोटिस का उत्तर देने के लिए समय न दिया जाना – यदि याची के चैक का बैंक में अनादरण हो जाता है और अभियुक्त को इस संबंध में याची द्वारा विधिक नोटिस जारी कर दिया जाता है परन्तु उसका उत्तर देने के लिए अभियुक्त को समय नहीं दिया जाता है, तब याची द्वारा धारा 138 के अधीन फाइल किया गया परिवाद चलने योग्य नहीं होगा ।

दंड संहिता, 1860 (1860 का 45) – धारा 119 – मिथ्या साक्ष्य – शपथ-भंग – कॉलेज को कूटरचित कहते हुए उसमें सेवा करना – यदि याचिका में किए गए अभिवाकों के संबंध में याची यह प्रार्थना करता है कि उसके कुछ अभिवाकों को, असंगत होने के कारण, अनदेखा कर दिया जाए तब ऐसी प्रार्थना अनुचित होगी क्योंकि पक्षकारों की जानकारी के अनुसार उनके द्वारा किए गए अभिवाक् सत्य होने चाहिए और यदि कोई व्यक्ति भ्रम में डालने वाले ऐसे अभिवाक् करता है तब न्यायालय उसके मामले पर विचार नहीं करेगा अपितु ऐसे व्यक्ति का विचारण शपथ-भंग के अपराध के लिए भी किया जा सकता है ।

दंड संहिता, 1860 (1860 का 45) – धारा 228 [सपठित अधिवक्ता अधिनियम, 1961 तथा उच्चतम न्यायालय नियम, 1966] – न्यायालय की अवमानना – बुलाए जाने पर भी अभिलेख अधिवक्ता का न्यायालय में हाजिर न होना – बिना सोचे समझे याचिकाओं पर हस्ताक्षर करके अग्रेषित करना – प्रोक्सी काउंसेल का प्राधिकार – यदि अभिलेख अधिवक्ता न्यायालय में बुलाए जाने पर हाजिर नहीं होता है तब उसका

आचरण न्यायालय का आपराधिक अवमान करने की कोटि में आ सकता है – न्यायालय में किसी भी अधिवक्ता को प्रोक्सी काउंसेल के रूप में पेश होकर न्यायालय का समय बर्बाद करने और उसकी प्रक्रिया का दुरुपयोग करने के लिए अनुज्ञात नहीं किया जा सकता है और प्रोक्सी काउंसेल जैसे संबंध का उल्लेख अधिवक्ता अधिनियम या उच्चतम न्यायालय नियम में कहीं भी नहीं किया गया है, इसलिए प्रोक्सी काउंसेल की हाजिरी स्वीकार करना न्यायालय के लिए आवश्यक नहीं है ।

इस मामले में याची ने यह दावा किया है कि उसे एक कूटरचित विद्यालय में वरिष्ठ लेक्चरर के रूप में एक वर्ष की अवधि के लिए नियुक्त किया गया था और उसे 12 उत्तर दिनांकित चैक उसके वेतन के प्रति जारी किए गए जिनमें से 9 चैकों का अनादरण हो गया । याची ने प्रत्यर्थी को विधिक नोटिस जारी किया किन्तु उसका उत्तर प्राप्त करने के पूर्व ही न्यायालय में परक्राम्य लिखत अधिनियम, 1881 की धारा 138 के अधीन परिवाद फाइल कर दिया । विचारण न्यायालय ने दंड संहिता की धारा 406 और 420 और परक्राम्य लिखत अधिनियम की धारा 138 के अधीन प्रत्यर्थी को नोटिस जारी किया । विचारण न्यायालय के इस आदेश के विरुद्ध प्रत्यर्थी ने पटना उच्च न्यायालय के समक्ष आवेदन फाइल किया है । उच्च न्यायालय ने प्रत्यर्थी के इस आवेदन को मंजूर करते हुए याची की याचिका खारिज कर दी और यह अभिनिर्धारित किया कि यह मामला दांडिक नहीं अपितु सिविल प्रकृति का है । पटना उच्च न्यायालय के आदेश से व्यथित होकर याची संजय कुमार ने उच्चतम न्यायालय के समक्ष अपील फाइल की । अपील खारिज करते हुए,

अभिनिर्धारित – विद्वान् मजिस्ट्रेट, दानापुर ने याची द्वारा दंड संहिता की धारा 406, 420 तथा अधिनियम की धारा 138 के अधीन प्रथमदृष्ट्या मामला बनाए जाने पर तारीख 12 मई, 2008 के आदेश द्वारा प्राइवेट प्रत्यर्थी को तारीख 12 जून, 2008 को न्यायालय में हाजिर होने के लिए समन किया । प्राइवेट प्रत्यर्थी ने उच्च न्यायालय के समक्ष याचिका फाइल करके उक्त आदेश को चुनौती दी और इस याचिका को आक्षेपित निर्णय और आदेश द्वारा अन्य बातों के साथ अनेक आधारों पर मंजूर किया कि पक्षकारों के बीच एक वर्ष की सेवा के लिए करार किया गया था और उस करार में एक शर्त यह थी कि याची तीन वर्ष पूरे होने के पूर्व संस्था से त्यागपत्र नहीं देगा । इसके अतिरिक्त याची ने अभियुक्त को विधिक नोटिस का उत्तर देने के लिए पर्याप्त समय नहीं दिया क्योंकि उसने

नोटिस की तारीख के तुरंत पश्चात् ही शिकायत फाइल कर दी थी । उच्च न्यायालय ने भी यह निष्कर्ष निकाला है कि अभिलेख पर ऐसी कोई सामग्री नहीं है जिससे यह दर्शित होता हो कि कभी प्राइवेट प्रत्यर्थी को नोटिस तामील कराया गया था और उच्च न्यायालय ने उक्त याचिका को इस आधार पर मंजूर किया कि यह सिविल प्रकृति का मामला है क्योंकि इसका संबंध वेतन की वसूली से है । (पैरा 2)

इसके पूर्व, इस न्यायालय ने स्वयं याची को यह कारण बताने के लिए नोटिस जारी किया था कि यदि यह कोई फर्जी संस्था है, तब याची ने किस कारण से वहां सेवा की और वहां एक वर्ष तक सेवा में बना रहा । उक्त कारण बताओ नोटिस के जवाब में, याची ने यह दलील दी है कि ऐसे अभिवाकों को अनदेखा किया जाए और वर्तमान याचिका के निपटारे के प्रयोजन हेतु उस पर विचार न किया जाए । न्यायालय ने याचिका में किए गए अभिवाकों को भागतः मंजूर करने का कोई कारण नहीं दिखाई देता है और याची ने कोर्ट से यह निवेदन किया है कि वह इस मुद्दे पर विचार न करे क्योंकि यह मुद्दा इस मामले की गुणता के साथ पूर्णतया असंगत है । पक्षकारों की जानकारी के अनुसार उनके द्वारा किए गए अभिवाक् सत्य होने चाहिए और यदि कोई व्यक्ति भ्रम में डालने वाले ऐसे अभिवाक् करता है तब न्यायालय उसके मामले पर विचार ही नहीं करेगा अपितु ऐसे व्यक्ति का शपथ-भंग के लिए विचारण भी किया जा सकता है । यदि याची द्वारा किए गए अभिवाक् सत्य हैं तब वह न्यायालय से उस अभिवाक् को अनदेखा करने का निवेदन नहीं कर सकता है । यदि ऐसा अभिवाक् मिथ्या है और कथन सशपथ किया गया है तब ऐसी स्थिति में वह शपथ-भंग के लिए विचारण किए जाने का जिम्मेदार होगा । इसके अतिरिक्त, ऐसा अभिवाक् सुसंगत है या नहीं, न्यायालय द्वारा विनिश्चित किया जाना चाहिए और भारतीय साक्ष्य अधिनियम, 1872 की धारा 165 के अधीन न्यायालय को यह अधिकार है कि वह पक्षकार से संगत या असंगत प्रश्न कर सकता है और पक्षकार या उसके काउंसेल ऐसे प्रश्नों के प्रति कोई आक्षेप नहीं कर सकते । (पैरा 4)

ऐसी तथ्यात्मक स्थिति में, याची की धूर्तता की निंदा करने के लिए न्यायालय के पास शब्द नहीं हैं कि उसने उच्चतम न्यायालय से अपने किए गए अभिवाकों को अनदेखा करने को कहा है । स्थिति कुछ भी हो, इस न्यायालय ने इस मामले की सुनवाई के प्रथम चरण में इस बात पर बल दिया है कि अभिलेख अधिवक्ता श्री मनु शंकर मिश्रा बहस के समय पर

न्यायालय में मौजूद रहें और न्यायालय ने उनके हाजिर होने के लिए इस मामले की सुनवाई को थोड़े समय के लिए रोक लिया है । सुनवाई के दूसरे चरण में न्यायालय को यह बताया गया है कि अभिलेख अधिवक्ता ने न्यायालय में आने से इनकार कर दिया है । न्यायालय अभिलेख अधिवक्ता के इस आचरण को गंभीरता से ले रहे हैं विशेषकर रामेश्वर प्रसाद गोयल वाले मामले में व्यक्त किए गए इस न्यायालय के मत को दृष्टिगत करते हुए, जिसमें इस न्यायालय ने स्पष्ट रूप से यह अभिनिर्धारित किया है कि यदि अभिलेख अधिवक्ता न्यायालय में हाजिर नहीं होता है तब उसका आचरण न्यायालय का आपराधिक अवमान करने की कोटि में आ सकता है । वास्तव में, कुछ अभिलेख अधिवक्ताओं ने अभिलेख अधिवक्ताओं की कार्य प्रणाली को धूमिल किया है जो थोड़े से धन के लिए बिना सोचे-समझे याचिकाओं पर हस्ताक्षर कर देते हैं । इस मामले में के अभिलेख अधिवक्ता यदि यह सोचते हैं कि इस तरह के कृत्य से वे न्यायालय को भ्रमित कर सकते हैं तो यह उनकी मूर्खता होगी । ऐसी दयनीय स्थिति में जैसा कि वर्तमान मामले में पाया गया है, किसी भी 'आरजी', 'फर्जी' नौसिखिए अधिवक्ता को, चाहे वह मुकदमेबाज की ओर से हो या अभिलेख अधिवक्ता की ओर से, यह मानकर कि वह जनता के समय को बिना किसी प्राधिकार के नष्ट कर सकता है, न्यायालय ने प्रोक्सी काउंसेल के रूप में पेश होकर उसका समय बर्बाद करने और न्यायालय की प्रक्रिया का दुरुपयोग करने के लिए अनुज्ञात नहीं किया जा सकता है, जबकि 'प्रोक्सी काउंसेल' जैसे शब्दों का उल्लेख अधिवक्ता अधिनियम, 1961 या उच्चतम न्यायालय नियम, 1966 आदि में कहीं भी नहीं किया गया है । न्यायालय को खेद है कि अभिलेख अधिवक्ता ने इस न्यायालय के उस आदेश के प्रति अवज्ञापूर्ण कार्य किया है जिसके द्वारा उन्हें न्यायालय में हाजिर होने के लिए बुलाया गया था । उन्होंने अपनी ओर से हाजिर होने वाले काउंसेल की हाजिरी के लिए कोई भी दस्तावेज प्रस्तुत नहीं किया है और न ही उस अधिवक्ता ने अपना नाम प्रकट किया है । इस न्यायालय ने अभिलेख अधिवक्ता, श्री मनु शंकर मिश्रा के इस आचरण को गंभीरता से लिया है और यह न्यायालय उन्हें यह चेतावनी देता है कि वे एक अधिवक्ता और अभिलेख अधिवक्ता के लिए जो आचरण उचित हो उसी रूप में कार्य करें अन्यथा इस न्यायालय को उनके विरुद्ध कार्यवाही करने में कोई संकोच नहीं होगा । अब यह न्यायालय उनके आचरण पर सूक्ष्मता से नजर रखेगा । (पैरा 5)

दांडिक अपीली अधिकारिता : 2011 की विशेष इजाजत याचिका सं. 9967.

2009 के दांडिक प्रकीर्ण आवेदन सं. 13116 में पटना उच्च न्यायालय के तारीख 22 अगस्त, 2011 के निर्णय और आदेश के विरुद्ध रिट याचिका ।

अपीलार्थी की ओर से श्री मनु शंकर मिश्रा

प्रत्यर्थियों की ओर से सर्वश्री गोपाल सिंह और चंदन कुमार

आदेश

यह विशेष इजाजत याचिका 2009 की दांडिक प्रकीर्ण आवेदन सं. 13116 में पटना उच्च न्यायालय द्वारा पारित किए गए तारीख 22 जुलाई, 2011 के उस निर्णय और आदेश के विरुद्ध फाइल की गई है जिसके द्वारा प्रत्यथी सं. 2 के विरुद्ध दांडिक कार्यवाहियों को अभिखंडित किया गया था और दंड प्रक्रिया संहिता, 1973 (जिसे इसमें इसके पश्चात् 'संहिता' कहा गया है) की धारा 482 के अधीन आवेदन मंजूर किया गया था ।

2. जिन तथ्यों और परिस्थितियों के आधार पर यह याचिका फाइल की गई थी इस प्रकार हैं :–

(क) याची ने यह दावा किया है कि उसे एक कूटरचित दंत विद्यालय में वरिष्ठ प्रवक्ता के रूप में प्राइवेट प्रत्यर्थी सं. 2 द्वारा एक वर्ष के लिए नियुक्त किया गया था और याची को 12 उत्तर-दिनांकित चैक वेतन के भुगतान के प्रति जारी किए गए जिनमें से 9 चैकों का अनादरण हो गया । परिवादी याची ने प्रत्यर्थी सं. 2 को विधिक नोटिस भेजा किन्तु उन्हें उत्तर फाइल करने के लिए पर्याप्त समय दिए बिना भारतीय दंड संहिता, 1860 (जिसे इसमें इसके पश्चात् "दंड संहिता" निर्दिष्ट किया गया है) की धारा 34 के साथ पठित धारा 403, 404, 406, 408, 418, 420 और 504 तथा परक्राम्य लिखत अधिनियम, 1881 (जिसे संक्षेप में "अधिनियम" कहा गया है) की धारा 138 के अधीन मजिस्ट्रेट, दानापुर, पटना के समक्ष परिवाद फाइल किया ।

(ख) विद्वान् मजिस्ट्रेट, दानापुर ने याची द्वारा दंड संहिता की धारा 406, 420 तथा अधिनियम की धारा 138 के अधीन प्रथमदृष्ट्या मामला बनाए जाने पर तारीख 12 मई, 2008 के आदेश द्वारा प्राइवेट प्रत्यर्थी को

तारीख 12 जून, 2008 को न्यायालय में हाजिर होने के लिए समन किया । प्राइवेट प्रत्यर्थी ने उच्च न्यायालय के समक्ष याचिका फाइल करके उक्त आदेश को चुनौती दी और इस याचिका को आक्षेपित निर्णय और आदेश द्वारा अन्य बातों के साथ अनेक आधारों पर मंजूर किया कि पक्षकारों के बीच एक वर्ष की सेवा के लिए करार किया गया था और उस करार में एक शर्त यह थी कि याची तीन वर्ष पूरे होने के पूर्व संस्था से त्यागपत्र नहीं देगा । इसके अतिरिक्त याची ने अभियुक्त को विधिक नोटिस का उत्तर देने के लिए पर्याप्त समय नहीं दिया क्योंकि उसने नोटिस की तारीख के तुरंत पश्चात् ही शिकायत फाइल कर दी थी । उच्च न्यायालय ने भी यह निष्कर्ष निकाला है कि अभिलेख पर ऐसी कोई सामग्री नहीं है जिससे यह दर्शित होता हो कि कभी प्राइवेट प्रत्यर्थी को नोटिस तामील कराया गया था और उच्च न्यायालय ने उक्त याचिका को इस आधार पर मंजूर किया कि यह सिविल प्रकृति का मामला है क्योंकि इसका संबंध वेतन की वसूली से है ।

(ग) इस आदेश से व्यथित होकर याची ने इस न्यायालय के समक्ष अपनी याचिका में यह प्रकथन करते हुए आवेदन किया है कि अभियुक्त व्यक्ति एक कूटरचित संस्था चला रहे हैं और उन्होंने कतिपय शर्तों के आधार पर याची को नियुक्ति का प्रस्ताव दिया है और इस संस्था में काम करने के बावजूद उसे वेतन का संदाय नहीं किया गया है ।

इसी कारण यह याचिका फाइल की गई है ।

3. वर्तमान मामले में याची की ओर से न्यायालय में हाजिर होने वाले काउंसेल ने स्वयं को मात्र प्रोक्सी काउंसेल की हैसियत से प्रस्तुत किया है । अभिलेख अधिवक्ता ने कम से कम उस अधिवक्ता के नाम की पर्ची भी न्यायालय के समक्ष प्रस्तुत नहीं की है जिसे वास्तव में याची की ओर से पेश होना था । इस प्रकार, ऐसी तथ्यात्मक स्थिति में, हमें न्यायालय में पेश होने वाले अधिवक्ता के नाम का पता नहीं चल सका ।

4. इसके पूर्व, इस न्यायालय ने स्वयं याची को यह कारण बताने के लिए नोटिस जारी किया था कि यदि यह कोई फर्जी संस्था है, तब याची ने किस कारण से वहां सेवा की और वहां एक वर्ष तक सेवा में बना रहा । उक्त कारण बताओ नोटिस के जवाब में, याची ने यह दलील दी है कि ऐसे अभिवाकों को अनदेखा किया जाए और वर्तमान याचिका के निपटारे के प्रयोजन हेतु उस पर विचार न किया जाए । हमें याचिका में किए गए

अभिवाकों को भागतः मंजूर करने का कोई कारण नहीं दिखाई देता है और याची ने कोर्ट से यह निवेदन किया है कि वह इस मुद्दे पर विचार न करे क्योंकि यह मुद्दा इस मामले की गुणता के साथ पूर्णतया असंगत है । पक्षकारों की जानकारी के अनुसार उनके द्वारा किए गए अभिवाक् सत्य होने चाहिए और यदि कोई व्यक्ति भ्रम में डालने वाले ऐसे अभिवाक् करता है तब न्यायालय उसके मामले पर विचार ही नहीं करेगा अपितु ऐसे व्यक्ति का शपथ-भंग के लिए विचारण भी किया जा सकता है । यदि याची द्वारा किए गए अभिवाक् सत्य हैं तब वह न्यायालय से उस अभिवाक् को अनदेखा करने का निवेदन नहीं कर सकता है । यदि ऐसा अभिवाक् मिथ्या है और कथन सशपथ किया गया है तब ऐसी स्थिति में वह शपथ-भंग के लिए विचारण किए जाने का जिम्मेदार होगा । इसके अतिरिक्त, ऐसा अभिवाक् सुसंगत है या नहीं, न्यायालय द्वारा विनिश्चित किया जाना चाहिए और भारतीय साक्ष्य अधिनियम, 1872 की धारा 165 के अधीन न्यायालय को यह अधिकार है कि वह पक्षकार से संगत या असंगत प्रश्न कर सकता है और पक्षकार या उसके काउंसेल ऐसे प्रश्नों के प्रति कोई आक्षेप नहीं कर सकते ।

5. ऐसी तथ्यात्मक स्थिति में, याची की धूर्तता की निंदा करने के लिए हमारे पास शब्द नहीं हैं कि उसने उच्चतम न्यायालय से अपने किए गए अभिवाकों को अनदेखा करने को कहा है ।

स्थिति कुछ भी हो, इस न्यायालय ने इस मामले की सुनवाई के प्रथम चरण में इस बात पर बल दिया है कि अभिलेख अधिवक्ता श्री मनु शंकर मिश्रा बहस के समय पर न्यायालय में मौजूद रहें और न्यायालय ने उनके हाजिर होने के लिए इस मामले की सुनवाई को थोड़े समय के लिए रोक लिया है । सुनवाई के दूसरे चरण में हमें यह बताया गया है कि अभिलेख अधिवक्ता ने न्यायालय में आने से इनकार कर दिया है । हम अभिलेख अधिवक्ता के इस आचरण को गंभीरता से ले रहे हैं विशेषकर रामेश्वर प्रसाद गोयल वाले मामले में व्यक्त किए गए इस न्यायालय के मत को दृष्टिगत करते हुए, जिसमें इस न्यायालय ने स्पष्ट रूप से यह अभिनिर्धारित किया है कि यदि अभिलेख अधिवक्ता न्यायालय में हाजिर नहीं होता है तब उसका आचरण न्यायालय का आपराधिक अवमान करने की कोटि में आ सकता है । वास्तव में, कुछ अभिलेख अधिवक्ताओं ने अभिलेख अधिवक्ताओं की कार्य प्रणाली को धूमिल किया है जो थोड़े से धन के लिए बिना सोचे-समझे याचिकाओं पर हस्ताक्षर कर देते हैं । इस मामले में के

अभिलेख अधिवक्ता यदि यह सोचते हैं कि इस तरह के कृत्य से वे न्यायालय को भ्रमित कर सकते हैं तो यह उनकी मूर्खता होगी । ऐसी दयनीय स्थिति में जैसा कि वर्तमान मामले में पाया गया है, किसी भी 'आरजी', 'फर्जी' नौसिखिए अधिवक्ता को, चाहे वह मुकदमेबाज की ओर से हो या अभिलेख अधिवक्ता की ओर से, यह मानकर कि वह जनता के समय को बिना किसी प्राधिकार के नष्ट कर सकता है, न्यायालय ने प्रोक्सी काउंसेल के रूप में पेश होकर उसका समय बर्बाद करने और न्यायालय की प्रक्रिया का दुरुपयोग करने के लिए अनुज्ञात नहीं किया जा सकता है, जबकि 'प्रोक्सी काउंसेल' जैसे शब्दों का उल्लेख अधिवक्ता अधिनियम, 1961 या उच्चतम न्यायालय नियम, 1966 आदि में कहीं भी नहीं किया गया है । हमें खेद है कि अभिलेख अधिवक्ता ने इस न्यायालय के उस आदेश के प्रति अवज्ञापूर्ण कार्य किया है जिसके द्वारा उन्हें न्यायालय में हाजिर होने के लिए बुलाया गया था । उन्होंने अपनी ओर से हाजिर होने वाले काउंसेल की हाजिरी के लिए कोई भी दस्तावेज प्रस्तुत नहीं किया है और न ही उस अधिवक्ता ने अपना नाम प्रकट किया है । इस न्यायालय ने अभिलेख अधिवक्ता, श्री मनु शंकर मिश्रा के इस आचरण को गंभीरता से लिया है और यह न्यायालय उन्हें यह चेतावनी देता है कि वे एक अधिवक्ता और अभिलेख अधिवक्ता के लिए जो आचरण उचित हो उसी रूप में कार्य करें अन्यथा इस न्यायालय को उनके विरुद्ध कार्यवाही करने में कोई संकोच नहीं होगा । अब यह न्यायालय उनके आचरण पर सूक्ष्मता से नजर रखेगा ।

6. उपर्युक्त मताभिव्यक्तियों के साथ यह याचिका खारिज की जाती है ।

याचिका खारिज की गई ।

अस.

———

संसद् के अधिनियम

दहेज प्रतिषेध अधिनियम, 1961

(1961 का अधिनियम संख्यांक 28)

[20 मई, 1961]

दहेज का देना या लेना प्रतिषिद्ध करने के लिए अधिनियम

भारत गणराज्य के बारहवें वर्ष में संसद् द्वारा निम्नलिखित रूप में यह अधिनियमित हो :–

1. संक्षिप्त नाम, विस्तार और प्रारम्भ – (1) इस अधिनियम का संक्षिप्त नाम दहेज प्रतिषेध अधिनियम, 1961 है ।

(2) इसका विस्तार जम्मू-कश्मीर राज्य के सिवाय सम्पूर्ण भारत पर है ।

(3) यह उस तारीख[1] को प्रवृत्त होगा जिसे केन्द्रीय सरकार, राजपत्र में अधिसूचना द्वारा, नियत करे ।

2. "दहेज" की परिभाषा – इस अधिनियम में, "दहेज" से कोई ऐसी संपत्ति या मूल्यवान प्रतिभूति अभिप्रेत है जो विवाह के समय या उसके पूर्व [2][या पश्चात् किसी समय] –

(क) विवाह के एक पक्षकार द्वारा विवाह के दूसरे पक्षकार को ; या

(ख) विवाह के किसी भी पक्षकार के माता-पिता द्वारा या किसी अन्य व्यक्ति द्वारा विवाह के किसी भी पक्षकार को या किसी अन्य व्यक्ति को,

[3][उक्त पक्षकारों के विवाह के संबंध में] या तो प्रत्यक्षत: या अप्रत्यक्षत: दी गई है या दी जाने के लिए करार की गई है, किन्तु उन व्यक्तियों के संबंध

---

[1] 1 जुलाई, 1961 (भारत का राजपत्र, असाधारण, भाग 2, खंड 3(ii), पृष्ठ 1005 पर मुद्रित अधिसूचना सं. का. आ. 1410, तारीख 20-6-1961 देखिए) ।

[2] 1986 के अधिनियम सं. 43 की धारा 2 द्वारा (19-11-1986 से) "या पश्चात्" शब्दों के स्थान पर प्रतिस्थापित ।

[3] 1984 के अधिनियम सं. 63 की धारा 2 द्वारा (2-10-1985 से) "उक्त पक्षकारों के विवाह के प्रतिफलस्वरूप" के स्थान पर प्रतिस्थापित ।

में जिन्हें मुस्लिम स्वीय विधि (शरीयत) लागू होती है, मेहर इसके अंतर्गत नहीं है ।

[1]* * * * *

स्पष्टीकरण 2 – "मूल्यवान प्रतिभूति" पद का वही अर्थ है जो भारतीय दंड संहिता (1860 का 45) की धारा 30 में है ।

3. दहेज देने या दहेज लेने के लिए शास्ति – [2][(1) यदि कोई व्यक्ति, इस अधिनियम के प्रारंभ के पश्चात्, दहेज देगा या लेगा अथवा दहेज देना या लेना दुष्प्रेरित करेगा [3][तो वह कारावास से, जिसकी अवधि [4][पांच वर्ष से कम की नहीं होगी, और जुर्माने से, जो पन्द्रह हजार रुपए से या ऐसे दहेज के मूल्य की रकम तक का, इनमें से जो भी अधिक हो, कम नहीं होगा] दण्डनीय होगा :

परन्तु न्यायालय, ऐसे पर्याप्त और विशेष कारणों से जो निर्णय में लेखबद्ध किए जाएंगे, [5][पांच वर्ष] से कम की किसी अवधि के कारावास का दण्डादेश अधिरोपित कर सकेगा ।]

[6][(2) उपधारा (1) की कोई बात, –

(क) ऐसी भेंटों को, जो वधू को विवाह के समय (उस निमित्त कोई मांग किए बिना) दी जाती है या उनके संबंध में लागू नहीं होंगी :

परन्तु यह तब जब कि ऐसी भेंटें इस अधिनियम के अधीन बनाए गए नियमों के अनुसार रखी गई सूची में दर्ज की जाती हैं ;

(ख) ऐसी भेंटों को जो वर को विवाह के समय (उस निमित्त

---

[1] 1984 के अधिनियम सं. 63 की धारा 2 द्वारा (2-10-1985 से) स्पष्टीकरण 1 का लोप किया गया ।

[2] 1984 के अधिनियम सं. 63 की धारा 3 द्वारा (2-10-1985 से) धारा 3 को उसकी उपधारा (1) के रूप में पुनःसंख्यांकित किया गया ।

[3] 1984 के अधिनियम सं. 63 की धारा 3 द्वारा (2-10-1985 से) कुछ शब्दों के स्थान पर प्रतिस्थापित ।

[4] 1986 के अधिनियम सं. 43 की धारा 3 द्वारा (19-11-1986 से) कुछ शब्दों के स्थान पर प्रतिस्थापित ।

[5] 1986 के अधिनियम सं. 43 की धारा 3 द्वारा (19-11-1986 से) "छह मास" शब्दों के स्थान पर प्रतिस्थापित ।

[6] 1984 के अधिनियम सं. 63 की धारा 3 द्वारा (2-10-1985 से) अंतःस्थापित ।

कोई मांग किए बिना) दी जाती हैं या उनके संबंध में लागू नहीं होगी :

परन्तु यह तब जब कि ऐसी भेंटें, इस अधिनियम के अधीन बनाए गए नियमों के अनुसार रखी गई सूची में दर्ज की जाती हैं :

परन्तु यह और जहां ऐसी भेंटें जो वधू द्वारा या उसकी ओर से या किसी व्यक्ति द्वारा जो वधू का नातेदार है दी जाती है वहां ऐसी भेंटें रूढ़िगत प्रकृति की हैं और उनका मूल्य, ऐसे व्यक्ति की वित्तीय प्रास्थिति को ध्यान में रखते हुए, जिसके द्वारा या जिसकी ओर से ऐसी भेंटें दी गई हैं अधिक नहीं हैं ।]

[1][**4. दहेज मांगने के लिए शास्ति** – यदि कोई व्यक्ति, यथास्थिति, वधू या वर के माता-पिता या अन्य नातेदार या संरक्षक से किसी दहेज की प्रत्यक्ष रूप से या अप्रत्यक्ष रूप से मांग करेगा तो वह कारावास से, जिसकी अवधि छह मास से कम की नहीं होगी, किन्तु दो वर्ष तक की हो सकेगी और जुर्माने से जो दस हजार रुपए तक का हो सकेगा, दण्डनीय होगा :

परन्तु न्यायालय ऐसे पर्याप्त और विशेष कारणों से, जो निर्णय में उल्लिखित किए जाएंगे, छह मास से कम की किसी अवधि के कारावास का दण्डादेश अधिरोपित कर सकेगा ।]

[2][**4क. विज्ञापन पर पाबंदी** – यदि कोई व्यक्ति –

(क) अपने पुत्र या पुत्री या किसी अन्य नातेदार के विवाह के प्रतिफलस्वरूप किसी समाचारपत्र, नियतकालिक पत्रिका, जरनल या किसी अन्य माध्यम से, अपनी संपत्ति या किसी धन के अंश या दोनों के किसी कारबार या अन्य हित में किसी अंश की प्रस्थापना करेगा ;

(ख) खण्ड (क) में निर्दिष्ट कोई विज्ञापन मुद्रित करेगा या प्रकाशित करेगा या परिचालित करेगा,

तो वह कारावास से, जिसकी अवधि छह मास से कम की नहीं होगी, किन्तु जो पांच वर्ष तक की हो सकेगी या जुर्माने से, जो पन्द्रह हजार रुपए तक का हो सकेगा, दण्डनीय होगा :

---

[1] 1984 के अधिनियम सं. 63 की धारा 4 द्वारा (2-10-1985 से) धारा 4 के स्थान पर प्रतिस्थापित ।

[2] 1986 के अधिनियम सं. 43 की धारा 4 द्वारा (19-11-1986 से) अंतःस्थापित ।

परन्तु न्यायालय, ऐसे पर्याप्त और विशेष कारणों से, जो निर्णय में लेखबद्ध किए जाएंगे, छह मास से कम की किसी अवधि के कारावास का दंडादेश अधिरोपित कर सकेगा ।]

5. दहेज देने या लेने के लिए करार का शून्य होना – दहेज देने या लेने के लिए करार शून्य होगा ।

6. दहेज का पत्नी या उसके वारिसों के फायदे के लिए होना – (1) जहां कोई दहेज ऐसी स्त्री से भिन्न, जिसके विवाह के संबंध में वह दिया गया है, किसी व्यक्ति द्वारा प्राप्त किया जाता है, वहां वह व्यक्ति, उस दहेज को, –

(क) यदि वह दहेज विवाह से पूर्व प्राप्त किया गया था तो विवाह की तारीख के पश्चात् [1][तीन मास] के भीतर ; या

(ख) यदि वह दहेज विवाह के समय या उसके पश्चात् प्राप्त किया गया था, तो उसकी प्राप्ति की तारीख के पश्चात् [1][तीन मास] के भीतर ; या

(ग) यदि वह उस समय जब स्त्री अवयस्क थी तब प्राप्त किया गया था तो उसके अठारह वर्ष आयु प्राप्त करने के पश्चात् [1][तीन मास] के भीतर,

स्त्री को अन्तरित कर देगा और ऐसे अन्तरण तक उसे न्यास के रूप में स्त्री के फायदे के लिए धारण करेगा ।

[2][(2) यदि कोई व्यक्ति उपधारा (1) द्वारा अपेक्षित किसी संपत्ति का, उसके लिए विनिर्दिष्ट परिसीमा काल के भीतर [3][या उपधारा (3) द्वारा अपेक्षित] अन्तरण करने में असमर्थ रहेगा तो वह कारावास से, जिसकी अवधि छह मास से कम की नहीं होगी किन्तु दो वर्ष तक की हो सकेगी, या जुर्माने से, [4][जो पांच हजार रुपए से कम का नहीं होगा किन्तु दस

---

[1] 1984 के अधिनियम सं. 63 की धारा 5 द्वारा (2-10-1985 से) "एक वर्ष" के स्थान पर प्रतिस्थापित ।

[2] 1984 के अधिनियम सं. 63 की धारा 5 द्वारा (2-10-1985 से) उपधारा (2) के स्थान पर प्रतिस्थापित ।

[3] 1986 के अधिनियम सं. 43 की धारा 5 द्वारा (19-11-1986 से) अंतःस्थापित ।

[4] 1986 के अधिनियम सं. 43 की धारा 5 द्वारा (19-11-1986 से) कुछ शब्दों के स्थान पर प्रतिस्थापित ।

हजार रुपए तक का हो सकेगा] या दोनों से, दंडनीय होगा ।]

(3) जहां उपधारा (1) के अधीन किसी संपत्ति के लिए हकदार स्त्री की उसे प्राप्त करने के पूर्व मृत्यु हो जाती है, वह स्त्री के वारिस उसे तत्समय धारण करने वाले व्यक्ति से दावा करने के हकदार होंगे :

[1][परन्तु जहां ऐसी स्त्री की मृत्यु उसके विवाह के सात वर्ष के भीतर प्राकृतिक कारणों से अन्यथा हो जाती है वहां ऐसी संपत्ति, –

(क) यदि उसकी कोई संतान नहीं है तो उसके माता-पिता को अंतरित की जाएगी, या

(ख) यदि उसकी संतान है तो उसकी ऐसी संतान को अंतरित की जाएगी और ऐसे अंतरण तक ऐसी संतान के लिए न्यास के रूप में धारण की जाएगी ।]

[2][(3क) जहां उपधारा (1) [1][या उपधारा (3)] द्वारा अपेक्षित संपत्ति का अंतरण करने में असफल रहने के लिए, उपधारा (2) के अधीन सिद्धदोष ठहराए गए किसी व्यक्ति ने, उस उपधारा के अधीन उसके सिद्धदोष ठहराए जाने के पूर्व, ऐसी संपत्ति का, उसके लिए हकदार स्त्री को या, यथास्थिति, [3][उसके वारिसों, माता-पिता या संतान] को अंतरण नहीं किया है वहां, न्यायालय उस उपधारा के अधीन दण्ड अधिनिर्णीत करने के अतिरिक्त, लिखित आदेश द्वारा, यह निदेश देगा कि ऐसा व्यक्ति, ऐसी संपत्ति का, यथास्थिति, ऐसी स्त्री या [4][उसके वारिसों, माता-पिता या संतान] को ऐसी अवधि के भीतर जो आदेश में विनिर्दिष्ट की जाए, अंतरण करे और यदि ऐसा व्यक्ति ऐसे निदेश का इस प्रकार विनिर्दिष्ट अवधि के भीतर अनुपालन करने में असफल रहेगा तो संपत्ति के मूल्य के बराबर रकम उससे ऐसे वसूल की जा सकेगी मानो वह ऐसे न्यायालय द्वारा अधिरोपित जुर्माना हो और उसका, यथास्थिति, उस स्त्री या [4][उसके वारिसों, माता-पिता या संतान] को संदाय किया जा सकेगा ।

---

[1] 1986 के अधिनियम सं. 43 की धारा 5 द्वारा (19-11-1986 से) अंतःस्थापित ।

[2] 1984 के अधिनियम सं. 63 की धारा 5 द्वारा (2-10-1985 से) अंतःस्थापित ।

[3] 1986 के अधिनियम सं. 43 की धारा 5 द्वारा (19-11-1986 से) "उसके वारिसों" के स्थान पर प्रतिस्थापित ।

[4] 1984 के अधिनियम सं. 63 की धारा 6 द्वारा (2-10-1985 से) धारा 7 के स्थान पर प्रतिस्थापित ।

(4) इस धारा की कोई बात धारा 3 या धारा 4 के उपबंधों पर प्रभाव नहीं डालेगी ।

[1][**7. अपराधों का संज्ञान** – (1) दण्ड प्रक्रिया संहिता, 1973 (1974 का 2) में किसी बात के होते हुए भी, –

(क) महानगर मजिस्ट्रेट या प्रथम वर्ग न्यायिक मजिस्ट्रेट के न्यायालय से अवर कोई न्यायालय इस अधिनियम के अधीन किसी अपराध का विचारण नहीं करेगा ;

(ख) कोई न्यायालय, इस अधिनियम के अधीन किसी अपराध का संज्ञान, –

(i) अपनी जानकारी पर या ऐसे अपराध को गठित करने वाले तथ्यों की पुलिस रिपोर्ट पर, या

(ii) अपराध से व्यथित व्यक्ति या ऐसे व्यक्ति के माता-पिता या अन्य नातेदार द्वारा अथवा किसी मान्यताप्राप्त कल्याण संस्था या संगठन द्वारा किए गए परिवाद पर,

ही करेगा, अन्यथा नहीं ;

(ग) महानगर मजिस्ट्रेट या प्रथम वर्ग न्यायिक मजिस्ट्रेट के लिए यह विधिपूर्ण होगा कि वह इस अधिनियम के अधीन किसी अपराध के लिए सिद्धदोष ठहराए गए किसी व्यक्ति के विरुद्ध, इस अधिनियम द्वारा प्राधिकृत कोई दण्डादेश पारित करे ।

स्पष्टीकरण – इस उपधारा के प्रयोजनों के लिए, "मान्यताप्राप्त कल्याण संस्था या संगठन" से कोई ऐसी समाज कल्याण संस्था या संगठन अभिप्रेत है जिसे इस निमित्त केन्द्रीय या राज्य सरकार द्वारा मान्यता दी गई है ।

(2) दण्ड प्रक्रिया संहिता, 1973 (1974 का 2) के अध्याय 36 की कोई बात इस अधिनियम के अधीन दण्डनीय किसी अपराध को लागू नहीं होगी ।]

[2][(3) तत्समय प्रवृत्त किसी विधि में किसी बात के होते हुए भी, अपराध से व्यथित व्यक्ति द्वारा किया गया कोई कथन ऐसे व्यक्ति को इस अधिनियम के अधीन अभियोजन का भागी नहीं बनाएगा ।]

---

[1] 1984 के अधिनियम सं. 63 की धारा 6 द्वारा (2-10-1985 से) धारा 7 के स्थान पर प्रतिस्थापित ।

[2] 1986 के अधिनियम सं. 43 की धारा 6 द्वारा (19-11-1986 से) अंतःस्थापित ।

[1][**8. अपराधों का कुछ प्रयोजनों के लिए संज्ञेय होना तथा जमानतीय और अशमनीय होना** – (1) दण्ड प्रक्रिया संहिता, 1973 (1974 का 2) इस अधिनियम के अधीन अपराधों को वैसे ही लागू होगी मानो वे –

(क) ऐसे अपराधों के अन्वेषण के प्रयोजनों के लिए ; और

(ख) निम्नलिखित से भिन्न विषयों के प्रयोजनों के लिए –

(i) उस संहिता की धारा 42 में विनिर्दिष्ट विषय ; और

(ii) किसी व्यक्ति की वारण्ट के बिना या मजिस्ट्रेट के किसी आदेश के बिना गिरफ्तारी, संज्ञेय अपराध हों ।

(2) इस अधिनियम के अधीन प्रत्येक अपराध [2][अजमानतीय] और अशमनीय होगा ।]

[3][**8क. कुछ मामलों में सबूत का भार** – जहां कोई व्यक्ति धारा 3 के अधीन कोई दहेज लेने या दहेज का लेना दुष्प्रेरित करने के लिए या धारा 4 के अधीन दहेज मांगने के लिए अभियोजित किया जाता है वहां यह साबित करने का भार उसी पर होगा कि उसने उन धाराओं के अधीन कोई अपराध नहीं किया है ।

8ख. दहेज प्रतिषेध अधिकारी – (1) राज्य सरकार उतने दहेज प्रतिषेध अधिकारी नियुक्त कर सकेगी जितने वह ठीक समझे और वे क्षेत्र विनिर्दिष्ट कर सकेगी जिनकी बाबत वे अपनी अधिकारिता और शक्तियों का प्रयोग इस अधिनियम के अधीन करेंगे ।

(2) प्रत्येक दहेज प्रतिषेध अधिकारी निम्नलिखित शक्तियों का प्रयोग और कृत्यों का पालन करेगा, अर्थात् :–

(क) यह देखना कि इस अधिनियम के उपबंधों का अनुपालन किया जाता है ;

(ख) दहेज देने या दहेज लेने को दुष्प्रेरित करने या दहेज मांगने को यथासंभव रोकना ;

---

[1] 1984 के अधिनियम सं. 63 की धारा 7 द्वारा (2-10-1985 से) धारा 8 के स्थान पर प्रतिस्थापित ।

[2] 1986 के अधिनियम सं. 43 की धारा 7 द्वारा (19-11-1986 से) "जमानतीय" शब्दों के स्थान पर प्रतिस्थापित ।

[3] 1986 के अधिनियम सं. 43 की धारा 8 द्वारा (19-11-1986 से) अंतःस्थापित ।

(ग) इस अधिनियम के अधीन अपराध करने वाले व्यक्तियों के अभियोजन के लिए ऐसा साक्ष्य एकत्र करना जो आवश्यक हो ; और

(घ) ऐसे अतिरिक्त कार्य करना जो राज्य सरकार द्वारा उसे सौंपे जाएं या इस अधिनियम के अधीन बनाए गए नियमों में विनिर्दिष्ट किए जाएं ।

(3) राज्य सरकार राजपत्र में अधिसूचना द्वारा दहेज प्रतिषेध अधिकारी को किसी पुलिस अधिकारी की ऐसी शक्तियां प्रदत्त कर सकेगी जो अधिसूचना में विनिर्दिष्ट की जाएं और वह ऐसी शक्तियों का प्रयोग ऐसी परिसीमाओं और शर्तों के अधीन रहते हुए करेगा जो इस अधिनियम के अधीन बनाए गए नियमों द्वारा विनिर्दिष्ट की जाएं ।

(4) राज्य सरकार दहेज प्रतिषेध अधिकारी को इस अधिनियम के अधीन उसके कृत्यों के दक्ष पालन में सलाह देने और सहायता करने के प्रयोजन के लिए, एक सलाहकार बोर्ड नियुक्त कर सकेगी जिसमें उस क्षेत्र से, जिसकी बाबत ऐसा दहेज प्रतिषेध अधिकारी उपधारा (1) के अधीन अधिकारिता का प्रयोग करता है, पांच से अनधिक समाज कल्याण कार्यकर्ता होंगे (जिनमें से कम से कम दो महिलाएं होंगी) ।]

9. नियम बनाने की शक्ति – (1) केन्द्रीय सरकार इस अधिनियम के प्रयोजनों को कार्यान्वित करने के लिए नियम, राजपत्र में अधिसूचना द्वारा, बना सकती है ।

[1][(2) विशिष्टतया और पूर्वगामी शक्ति की व्यापकता पर प्रतिकूल प्रभाव डाले बिना, ऐसे नियमों में निम्नलिखित के लिए उपबंध किया जा सकेगा, अर्थात् :–

(क) वह प्ररूप जिसमें और वह रीति जिससे और ऐसे व्यक्ति जिनके द्वारा धारा 3 की उपधारा (2) में निर्दिष्ट भेंटों की कोई सूची रखी जाएगी और उनसे संबंधित सभी अन्य विषय ; और

(ख) इस अधिनियम के प्रशासन की बाबत नीति और कार्रवाई का बेहतर समन्वय ।]

---

[1] 1984 के अधिनियम सं. 63 की धारा 8 द्वारा (2-10-1985 से) अंतःस्थापित ।

[1][(3)] इस धारा के अधीन बनाया गया प्रत्येक नियम बनाए जाने के पश्चात् यथाशीघ्र संसद् के प्रत्येक सदन के समक्ष जब वह सत्र में हो, तीस दिन की अवधि के लिए रखा जाएगा [2][यह अवधि एक सत्र में अथवा दो या अधिक आनुक्रमिक सत्रों में पूरी हो सकेगी । यदि उस सत्र के या पूर्वोक्त आनुक्रमिक सत्रों के ठीक बाद के सत्र के अवसान के पूर्व] दोनों सदन उस नियम में कोई परिवर्तन करने के लिए सहमत हो जाएं तो तत्पश्चात् वह ऐसे परिवर्तित रूप में ही प्रभावी होगा यदि उक्त अवसान के पूर्व दोनों सदन सहमत हो जाएं कि वह नियम नहीं बनाया जाना चाहिए तो तत्पश्चात् वह निष्प्रभाव हो जाएगा किन्तु नियम के ऐसे परिवर्तित या निष्प्रभाव होने से उसके अधीन पहले की गई किसी बात की विधिमान्यता पर प्रतिकूल प्रभाव नहीं पड़ेगा ।

[3][**10. राज्य सरकार की नियम बनाने की शक्ति** – (1) राज्य सरकार, इस अधिनियम के प्रयोजन को कार्यान्वित करने के लिए, राजपत्र में अधिसूचना द्वारा, नियम बना सकेगी ।

(2) विशिष्टतया और पूर्वगामी शक्ति की व्यापकता पर प्रतिकूल प्रभाव वाले बिना, ऐसे नियमों में निम्नलिखित सभी या किन्हीं विषयों के लिए उपबंध किया जा सकेगा, अर्थात् :–

(क) दहेज प्रतिषेध अधिकारियों द्वारा धारा 8ख की उपधारा (2) के अधीन पालन किए जाने वाले अतिरिक्त कृत्य ;

(ख) वे परिसीमाएं और शर्तें जिनके अधीन रहते हुए दहेज प्रतिषेध अधिकारी धारा 8ख की उपधारा (3) के अधीन अपने कृत्यों का प्रयोग कर सकेंगे ।

(3) राज्य सरकार द्वारा इस धारा के अधीन बनाया गया प्रत्येक नियम बनाए जाने के पश्चात् यथाशीघ्र राज्य विधान-मंडल के समक्ष रखा जाएगा ।]

———

[1] 1984 के अधिनियम सं. 63 की धारा 8 द्वारा (2-10-1985 से) उपधारा (2) की उपधारा (3) के रूप में पुनःसंख्यांकित किया गया ।

[2] 1983 के अधिनियम सं. 20 की धारा 2 और अनुसूची द्वारा (15-3-1984 से) कुछ शब्दों के स्थान पर प्रतिस्थापित ।

[3] 1986 के अधिनियम सं. 43 की धारा 9 द्वारा (19-11-1986 से) धारा 10 के स्थान पर प्रतिस्थापित ।

नियम

*दहेज प्रतिषेध (वर-वधू भेंट सूची) नियम, 1985

सा. का. नि. 664(अं) – केन्द्रीय सरकार, दहेज प्रतिषेध अधिनियम, 1961 (1961 का 28) की धारा 9 द्वारा प्रदत्त शक्तियों का प्रयोग करते हुए, निम्नलिखित नियम बनाती है :–

1. संक्षिप्त नाम और प्रारम्भ – (1) इन नियमों का संक्षिप्त नाम दहेज प्रतिषेध (वर-वधू भेंट सूची) नियम, 1985 है ।

(2) ये 2 अक्तूबर, 1985 को प्रवृत्त होंगे जो दहेज प्रतिषेध (संशोधन) अधिनियम, 1984 (1984 का 63) के प्रवृत्त होने के लिए नियत की गई तारीख है ।

2. नियम जिनके अनुसार भेंटों की सूचियां रखी जानी हैं – (1) विवाह के समय जो भेंटें वधू को दी जाती हैं उनकी एक सूची वधू रखेगी ।

(2) विवाह के समय जो भेंटें वर को दी जाती हैं उनकी एक सूची वर रखेगा ।

(3) उपनियम (1) या उपनियम (2) में निर्दिष्ट भेंटों की प्रत्येक सूची, –

(क) विवाह के समय या विवाह के पश्चात् यथासंभव शीघ्र तैयार की जाएगी ;

(ख) लिखित में होगी ;

(ग) उसमें होगा –

(i) प्रत्येक भेंट का संक्षिप्त विवरण ;

(ii) भेंट का अनुमानित मूल्य ;

(iii) उस व्यक्ति का नाम जिसने भेंट दी है ; और

(iv) यदि वह व्यक्ति जिसने भेंट दी है वधू या वर का नातेदार है तो ऐसी नातेदारी का विवरण ;

---

* भारत के राजपत्र, असाधारण भाग 2, खण्ड 3(i) में सा. का. नि. 664(अं) तारीख 19 अगस्त, 1985 के अधीन प्रकाशित ।

(घ) वर और वधू दोनों द्वारा हस्ताक्षरित होगी ।

स्पष्टीकरण 1 – जहां वधू हस्ताक्षर करने में असमर्थ है, वहां वह उसे सूची पढ़कर सुनाई जाने के पश्चात् और उस व्यक्ति के, जिसने सूची में दी गई विशिष्टियों को इस प्रकार पढ़कर सुनाया है, उस सूची पर हस्ताक्षर प्राप्त करने के पश्चात् अपने हस्ताक्षर करने के बदले अपने अंगूठे का निशान लगा सकेगी ।

स्पष्टीकरण 2 – जहां वर हस्ताक्षर करने में असमर्थ है, वहां वह उसे सूची पढ़कर सुनाई जाने के पश्चात् और उस व्यक्ति के, जिसने सूची में दी गई विशिष्टियों को इस प्रकार पढ़कर सुनाया है, उस सूची पर हस्ताक्षर प्राप्त करने के पश्चात् अपने हस्ताक्षर करने के बदले अपने अंगूठे का निशान लगा सकेगा ।

(4) वर या वधू, यदि ऐसा चाहे तो उपनियम (1) या उपनियम (2) में निर्दिष्ट सूचियों में से किसी एक पर या दोनों पर अपने किसी नातेदार या किन्हीं नातेदारों या विवाह के समय उपस्थित किसी अन्य व्यक्ति या किन्हीं व्यक्तियों के हस्ताक्षर प्राप्त कर सकती है ।

———————

उपाबंध

भारतीय दंड संहिता (1860 का 45) से उद्धरण

* * * * *

अध्याय 20क

पति या पति के नातेदारों द्वारा क्रूरता के विषय में

498क. किसी स्त्री के पति या पति के नातेदार द्वारा उसके प्रति क्रूरता करना – जो कोई, किसी स्त्री का पति या पति का नातेदार होते हुए, ऐसी स्त्री के प्रति क्रूरता करेगा, वह कारावास से, जिसकी अवधि तीन वर्ष तक की हो सकेगी, दण्डित किया जाएगा और जुर्माने से भी दण्डनीय होगा ।

स्पष्टीकरण – इस धारा के प्रयोजनों के लिए, ''क्रूरता'' से निम्नलिखित अभिप्रेत है :–

(क) जानबूझकर किया गया कोई आचरण जो ऐसी प्रकृति का है जिससे उस स्त्री को आत्महत्या करने के लिए प्रेरित करने को या उस स्त्री के जीवन, अंग या स्वास्थ्य को (जो चाहे मानसिक हो या शारीरिक) गंभीर क्षति या खतरा कारित करने की संभावना है ; या

(ख) किसी स्त्री को इस दृष्टि से तंग करना कि उसको या उसके किसी नातेदार को किसी संपत्ति या मूल्यवान प्रतिभूति की कोई मांग पूरी करने के लिए प्रपीड़ित किया जाए या किसी स्त्री को इस कारण तंग करना कि उसका कोई नातेदार ऐसी मांग पूरी करने में असफल रहा है ।

* * * * *

दंड प्रक्रिया संहिता, 1973 (1974 का अधिनियम संख्यांक 2) से उद्धरण

* * * * *

174. आत्महत्या आदि पर पुलिस का जांच करना और रिपोर्ट देना – (1) जब पुलिस थाने के भारसाधक अधिकारी, या राज्य सरकार द्वारा उस निमित्त विशेषतया सशक्त किए गए किसी अन्य पुलिस अधिकारी को यह इत्तिला मिलती है कि किसी व्यक्ति ने आत्महत्या कर ली है, अथवा कोई व्यक्ति किसी अन्य व्यक्ति द्वारा या जीवजंतु द्वारा या किसी यंत्र द्वारा या दुर्घटना द्वारा मारा गया है, अथवा कोई व्यक्ति ऐसी परिस्थितियों में मरा

है जिनसे उचित रूप से यह संदेह होता है कि किसी अन्य व्यक्ति ने कोई अपराध किया है तो वह मृत्यु समीक्षाएं करने में सशक्त निकटतम कार्यपालक मजिस्ट्रेट को तुरन्त उसकी सूचना देगा और जब तक राज्य सरकार द्वारा विहित किसी नियम द्वारा या जिला या उपखंड मजिस्ट्रेट के किसी साधारण या विशेष आदेश द्वारा अन्यथा निर्दिष्ट न हो वह उस स्थान को जाएगा जहां ऐसे मृत व्यक्ति का शरीर है और वहां पड़ोस के दो या अधिक प्रतिष्ठित निवासियों की उपस्थिति में, अन्वेषण करेगा और मृत्यु के दृश्यमान कारण की रिपोर्ट तैयार करेगा जिसमें ऐसे घावों, अस्थिभंगों, नीलों और क्षति के अन्य चिन्हों का, जो शरीर पर पाए जाएं, वर्णन होगा और यह कथन होगा कि ऐसे चिन्ह किस प्रकार से और किस आयुध या उपकरण द्वारा (यदि कोई हो) किए गए प्रतीत होते हैं ।

(2) उस रिपोर्ट पर ऐसे पुलिस अधिकारी और अन्य व्यक्तियों द्वारा, या उनमें से इतनों द्वारा जो उससे सहमत हैं, हस्ताक्षर किए जाएंगे और वह जिला मजिस्ट्रेट या उपखंड मजिस्ट्रेट को तत्काल भेज दी जाएंगी ।

(3) जब –

(i) मामले में किसी स्त्री द्वारा उसके विवाह की तारीख के सात वर्ष के भीतर आत्महत्या अंतर्वलित है ; या

(ii) मामला किसी स्त्री की उसके विवाह के सात वर्ष के भीतर ऐसी परिस्थितियों में मृत्यु से संबंधित है, जो यह युक्तियुक्त संदेह उत्पन्न करती है कि किसी अन्य व्यक्ति ने ऐसी स्त्री के संबंध में कोई अपराध किया है ; या

(iii) मामला किसी स्त्री की उसके विवाह के सात वर्ष के भीतर मृत्यु से संबंधित है और उस स्त्री के किसी नातेदार ने उस निमित्त निवेदन किया है ; या

(iv) मृत्यु के कारण की बाबत कोई संदेह है ; या

(v) किसी अन्य कारण पुलिस अधिकारी ऐसा करना समीचीन समझता है, तब ऐसे नियमों के अधीन रहते हुए, जो राज्य सरकार द्वारा इस निमित्त विहित किए जाएं, वह अधिकारी यदि मौसम ऐसा है और दूरी इतनी है कि रास्ते में शरीर के ऐसे सड़ने की जोखिम के बिना, जिससे उसकी परीक्षा व्यर्थ हो जाए, उसे भिजवाया जा सकता है तो शरीर को उसकी परीक्षा की दृष्टि से, निकटतम सिविल सर्जन

के पास या राज्य सरकार द्वारा इस निमित्त नियुक्त अन्य अर्हित चिकित्सक के पास भेजेगा ।

(4) निम्नलिखित मजिस्ट्रेट मृत्यु-समीक्षा करने के लिए सशक्त है, अर्थात् कोई जिला मजिस्ट्रेट या उपखंड मजिस्ट्रेट और राज्य सरकार द्वारा या जिला मजिस्ट्रेट द्वारा इस निमित्त विशेषतया सशक्त किया गया कोई अन्य कार्यपालक मजिस्ट्रेट ।

* * * * *

176. मृत्यु के कारण की मजिस्ट्रेट द्वारा जांच – (1) जब कोई व्यक्ति पुलिस की अभिरक्षा में रहते हुए मर जाता है या जब मामला धारा 174 की उपधारा (3) के खंड (i) या खंड (ii) में निर्दिष्ट प्रकृति का है तब मृत्यु के कारण की जांच, पुलिस अधिकारी द्वारा किए जाने वाले अन्वेषण के बजाय या उसके अतिरिक्त वह निकटतम मजिस्ट्रेट करेगा जो मृत्यु-समीक्षा करने के लिए सशक्त है और धारा 174 की उपधारा (1) में वर्णित किसी अन्य दशा में इस प्रकार सशक्त किया गया कोई भी मजिस्ट्रेट कर सकेगा, और यदि वह ऐसा करता है तो उसे ऐसी जांच करने में वे सब शक्तियां होंगी जो उसे किसी अपराध की जांच करने में होती ।

(2) ऐसी जांच करने वाला मजिस्ट्रेट उसके संबंध में लिए गए साक्ष्य को इसमें इसके पश्चात् विहित किसी प्रकार से, मामले की परिस्थितियों के अनुसार अभिलिखित करेगा ।

(3) जब कभी ऐसे मजिस्ट्रेट के विचार में यह समीचीन है कि किसी व्यक्ति के, जो पहले ही गाड़ दिया गया है, मृत शरीर की इसलिए परीक्षा की जाए कि उसकी मृत्यु के कारण का पता चले तब मजिस्ट्रेट उस शरीर को निकलवा सकता है और उसकी परीक्षा करा सकता है ।

(4) जहां कोई जांच इस धारा के अधीन की जानी है वहां मजिस्ट्रेट, जहां कहीं साध्य है, मृतक के उन नातेदारों को, जिनके नाम और पते ज्ञात हैं, इत्तिला देगा और उन्हें जांच के समय उपस्थित रहने की अनुज्ञा देगा ।

स्पष्टीकरण – इस धारा में ''नातेदार'' पद से माता-पिता, संतान, भाई-बहिन और पति या पत्नी अभिप्रेत हैं ।

* * * * *

198क. भारतीय दंड संहिता की धारा 498क के अधीन अपराधों का अभियोजन – कोई न्यायालय भारतीय दंड संहिता (1860 का 45) की धारा 498क के अधीन दंडनीय अपराध का संज्ञान ऐसे अपराध को गठित करने वाले तथ्यों की पुलिस रिपोर्ट पर अथवा अपराध से व्यथित व्यक्ति द्वारा या उसके पिता, माता, भाई, बहिन या उसके पिता अथवा माता के भाई या बहिन द्वारा किए गए परिवाद पर या रक्त, विवाह या दत्तक ग्रहण द्वारा उससे संबंधित किसी अन्य व्यक्ति द्वारा न्यायालय की इजाजत से किए गए परिवाद पर ही करेगा अन्यथा नहीं ।

* * * * *

पहली अनुसूची

* * * * *

1. भारतीय दंड संहिता के अधीन अपराध

धारा	अपराध	दंड	संज्ञेय या असंज्ञेय	जमानतीय या अजमानतीय	किस न्यायालय द्वारा विचारणीय है
(1)	(2)	(3)	(4)	(5)	(6)
अध्याय 20क – पति या पति के नातेदारों द्वारा क्रूरता के विषय में					
498क	किसी विवाहित स्त्री के प्रति क्रूरता करने के लिए दंड	तीन वर्ष के लिए कारावास और जुर्माना	संज्ञेय यदि अपराध किए जाने से संबंधित इत्तिला पुलिस थाने के भारसाधक अधिकारी को अपराध से व्यथित व्यक्ति	अजमानतीय	प्रथम वर्ग मजिस्ट्रेट